



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

अद्वैतसिद्धिः

सटिप्पणलघुचन्द्रिकासत्यानन्दप्रबोधिकाव्याख्याद्वयोपेता

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

ॐ श्रीगोकुलेश्वरमहादेवो विजयतेतराम्



समर्पणम्.....

ॐ श्रीगोकुलधाम्नः परमाधिष्ठातृदेवस्य भगवतः
श्रीगोकुलेश्वरमहादेवस्य करसरोजयोः
सादरं समर्पयति

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः
श्रीगोकुलधाम कनखलः
हरिद्वारः (उत्तराञ्चलः)

समादरणीय अनन्त श्रीविश्वेश्वर श्रीमहत्स्वामिप्रज्ञानानन्दगिरि
जो महाराज को सप्रेम भेट



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिविश्वेश्वरसरस्वतीशिष्यश्रीमत्परमहंस—
परिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीविरचिता

अद्वैतसिद्धिः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिपरमानन्दसरस्वतीशिष्यश्रीमत्परमहंस—
परिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिब्रह्मानन्दसरस्वतीप्रणीतया
लघुचन्द्रिकाव्याख्यया

तथा

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिश्रीस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिशिष्य—
स्वामिविशुद्धानन्दगिरिविरचितया सटिप्पणसत्यानन्द—
प्रबोधिकाव्याख्यया समलङ्कृता

सम्पादकः प्रकाशकश्च

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

पुस्तकप्राप्तिस्थान

श्रीगोकुलधाम पुजारीगली (नयाघाट)

पहाड़ीबाजार, कनखल, हरिद्वार (उत्तराञ्चल) (पिन-२४९४०८)

एवम्

श्रीशिवमठधाम

बरनाला (सेखाफाटक रेलवेलाइन के पास)

संगरूर (पंजाब)

एवम्

स्वामिभोलानन्दविद्याभवन बी ८/४१ बाड़ागम्भीरसिंह

वाराणसी (उ.प्र.)

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण — ५००

विक्रमी सम्वत् — २०६२— (श्रीकृष्ण जन्माष्टमी)

शाङ्कराब्द — १२१८

दिनाङ्क — २६-८-२००५

मूल्य — ७५.००

—: सम्पादक एवं प्रकाशक :—

स्वामिविशुद्धानन्दगिरि

श्रीगोकुलधाम पुजारीगली (नयाघाट)

पहाड़ी बाजार, कनखल, हरिद्वार (उत्तराञ्चल)(पिन-२४९४०८)

(अंशिका कम्प्यूटर्स, एस.एम. आश्रम, कनखल-हरिद्वार)

निवेदनम्



यत्साधुत्वविमोहिताखिलजनः कैलासमासेवते,
यत् षट्शास्त्रविशुद्धबोधगरिमा जेगीयते ज्ञानिभिः।
यद्वेदान्तसुगूढसूक्तिमहिमा संवर्ण्यते साधुभिः,
नौमि प्रेमपुरः सरं हि शिरसा श्रीविष्णुदेवन्तुतम्॥
अद्वैताग्निनिभो वशेन्द्रियदलो द्वैतान्धकारान्तकः,
भस्माभूषितभालभागभरणो भद्राकृतिर्भास्वरः।
विद्यानन्दयतीन्द्रकेन्द्रतिलकः कैलासपीठेश्वरः,
सिद्धो बुद्धजनाधिशुद्धमुकुटो भात्यत्र सिद्धासने॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरं,
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।

प्राचीन काल से भारतीय विद्वानों का यह विचार रहा है कि शरीर की शुद्धि, वाणी की शुद्धि तथा अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ही जिज्ञासु अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इसको उद्देश्य करके महापुरुषों ने ग्रन्थों की रचनाएं भी की हैं। जैसे—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचा, मलशरीरस्य तु वैद्यकेन।

यो व्याकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

इस भोजराज की प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार योगसूत्र प्रणेता महर्षिपतञ्जलि हैं तथा व्याकरणमहाभाष्यकार महर्षिपतञ्जलि हैं और चरकसंहिता के भी रचयिता महर्षिपतञ्जलि हैं। इस पर प्रश्न होता है कि शरीर, वाणी और अन्तःकरण की शुद्धि करने वाले ग्रन्थों का सत्कारपूर्वक अनुसन्धान करके शरीर, वाणी और अन्तःकरण की शुद्धि करने के पश्चात् वेदाध्ययन करना चाहिये। वेदाध्ययन के अनन्तर क्या करना चाहिये? इसका समाधान स्वयं ही श्रुति कर रही है—“तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म” (तै. उ. ३-१) “अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः” (बृ. उ. २-५-१९) “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्” (बृ. उ. ४-५-६) इस पर पुनः प्रश्न होता है कि कितने समय तक वेदान्त विचार करना चाहिए? इसके समाधान में विद्वद्विष्ठतत्त्वविद् महापुरुषों के मुखारविन्द से वर्तमान में सुना गया— आ ब्रह्मानन्द पर्यन्त वेदान्तविचार करना चाहिए। इसके दो अर्थ होते हैं। प्रथम—जिस भी समय वेदान्तविचार करते समय ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाय, उसी समय शास्त्रादि के चिन्तन को छोड़कर केवल ब्रह्मतत्त्व में मन को समाहित करें। जैसा कि श्रुति कह रही है—“तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः, नानुध्यायाद्बहुञ्शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तदिति” (बृ. उ. ४-४-२१) किन्तु वेदान्त विचार करने पर भी किसी कारण से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार शीघ्र नहीं हुआ तब कहां तक शास्त्रादि का चिन्तन किया जाय? उसके समाधान में “आ ब्रह्मानन्द पर्यन्त” का द्वितीय अर्थ किया जाता है—अद्वैतसिद्धि की ब्रह्मानन्दी

टीका पर्यन्त विचार करना चाहिये। इससे ब्रह्मानन्दी टीका की महिमा सुस्पष्ट हो जाती है। जिस प्रकार से अद्वैतसिद्धिकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामि— मधुसूदनसरस्वती जी पूर्वाचार्यों को सम्मान देते हुए द्वितीयपरिच्छेद के समाप्ति के अवसर पर कहते हैं—

स्थितानि ग्रन्थेषु प्रकटमुपदिष्टानि गुरुभिर्गुणः,
वा दोषो वा न मम परवाक्यानि वदतः।
परं त्वस्मिन्नस्ति श्रमफलमिदं यन्निजधिया,
श्रुतीमां युक्तीनामकलि गुरुवाचां च विषयः।

उसी प्रकार पक्षतावच्छेदकविचार के अवसर पर दृष्टान्त (इदं रजतम्— रजतमिदम्) और दार्ष्टान्त (सन्तं घटं जानामि— घटं सन्तं जानामि) में दो तादाम्यों की सिद्धि अनुभूति, तर्क और अनुमान से करने के पश्चात् लघुचन्द्रिकाकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिब्रह्मानन्दसरस्वती जी कहते हैं—“तदिदं सर्वं शारीरकसंक्षेपशारीरकपञ्चपादिकादिमूलकम्।”

अद्वैतसिद्धि के ब्रह्मानन्दी टीका का नाम लघुचन्द्रिका भी है। लघुचन्द्रिका के पठन—पाठन की परम्परा बनी रहे, इसके लिये आचार्य द्वितीयवर्ष की परीक्षा में पक्षतावच्छेदकविचारपर्यन्त लघुचन्द्रिका टीका का निर्धारण किया गया है। विद्यागुरु श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य—श्रीस्वामिसत्यानन्दगिरिजी महाराज की प्रेरणा एवं असीम कृपा से पक्षतावच्छेदकविचारपर्यन्त लघुचन्द्रिका टीका की “सत्यानन्दप्रबोधिका” नामक हिन्दी टीका जिज्ञासुओं को सुगमतापूर्वक बोध के लिये लिखा है। आशा करते हैं कि इससे जिज्ञासुओं को लाभ होगा। “प्रासङ्गिकम्” लिखने तथा पावन मार्ग दर्शन के लिये विद्यागुरु श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिसत्यानन्दगिरिजी महाराज के युगलचरणकमलों में भूयसः प्रणाम निवेदन करता हूँ। आपकी ही कृपा से इस शुभ कार्य का सम्पादन हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में परमादरणीय श्रीमत्स्वामिब्रह्मानन्दतीर्थजी महाराज एवं समादरणीय श्रीमान् लालानौहरचन्द्रगर्गजी का सहयोग रहा है। इस ग्रन्थ के प्रूफ, संशोधनादि कार्य में श्रीगोकुलधाम पहाड़ी बाजार के सन्त एवं भक्तमण्डल का पूर्ण सहयोग रहा है। आप सभी के मंगलमय जीवन के लिये भगवान् श्रीगोकुलेश्वरमहादेव के युगलचरणकमलों में प्रार्थना करता हूँ। अनेक सावधानीपूर्वक सम्पादन करने पर भी कुछ त्रुटि रह ही जाती है। उनका सङ्केत मिलने पर अग्रिम संस्करण में सुधार कर दिया जायेगा। इति शिवम्।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी

विक्रमी सम्वत्—२०६२

शाङ्कराब्द—१२१८

दिनाङ्क — २६.८.२००५

सतामनुचरः

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

गोकुलधाम कनखलः

हरिद्वारः (उत्तराञ्चल)

प्रासङ्गिकम्



अहं निर्विकल्पो निराकार रूपो,
विभुर्व्याप्य सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणि।
सदा मे समत्वं न मुक्तिर्न बन्धः,

चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

अद्वैतसिद्धि का प्रणयन वेदान्तदर्शन (उत्तरमीमांसा) के चार अध्यायों की आधारशिला को दृष्टिगत रखकर चार परिच्छेदों में किया गया है जिसका उद्देश्य है— “असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।” (बृ.उ. १-३-२८) इससे प्रेरित होकर मनुष्य असद् मार्ग से विरत होकर सद्मार्ग का अनुसरण करता है। अविद्या के मार्ग से विरत होकर ज्ञानमार्ग पर आरोहण करता है। दुःखार्णव रूप जन्म-मरण के कष्टप्रद चक्र से छूटकर अमृत-मोक्ष प्राप्त करता है। यही अद्वैतसिद्धि में प्रतिपादित अद्वैतदर्शन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। भेदवादियों के सिद्धान्त गढ़ को धराशायी करने के लिये अद्वैतसिद्धि जैसे वाद ग्रन्थ का निर्माण हुआ। जिसकी भूमिका अनेकता में एकता स्थापित करके नर को नारायण बनाने का संदेश देती रहती है। अद्वैत ज्ञान की सुखद छत्र-छाया में ही मानव अपने जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। इसका ही समर्थन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीताशास्त्र में कहा है— “नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।” और “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” “ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति” “ज्ञानादेव तु कैवल्यम्” “तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय” इत्यादि अनेक श्रुतियों के द्वारा भी अद्वैततत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु भारत में विचार बाहुल्य का प्राबल्य सदा से ही रहा है और आज भी है। जिसके कारण प्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति होती रही है। इन्हीं विप्रतिपत्तियों को देखकर श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वती ने अद्वैतसिद्धि का निर्माण कर विपक्षियों का मान मर्दन किया है। अद्वैतसिद्धि की अनेक टीकायें हैं, उनमें से सर्वोत्कृष्ट लघुचन्द्रिका टीका है। जिसके लेखक श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिब्रह्मानन्दसरस्वतीजी हैं। लघुचन्द्रिका टीका का क्षेत्र विस्तृत है। अतः सम्पूर्ण टीका परीक्षा में रखी नहीं जा सकती है। इसलिये पक्षतावच्छेदकविचार पर्यन्त भाग तक आचार्य द्वितीय वर्ष की परीक्षा में निर्धारण किया गया है। इतने भाग तक की सत्यानन्दप्रबोधिका नामक हिन्दी टीका स्वामिविशुद्धानन्दगिरि के द्वारा लिखी गयी है। सत्यानन्दप्रबोधिकाकार ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से लघुचन्द्रिका को व्याख्या कर ग्रन्थ का हृदय खोलकर रख दिया है। इस टीका से लघुचन्द्रिका का पठन-पाठन करने वालों को अवश्य लाभ होगा — इसमें हमारी सम्मति है। सत्यानन्दप्रबोधिकाकारस्वामिविशुद्धानन्दगिरि के सर्वविध मंगलमय जीवन के लिये भाष्यकारादि पूर्वाचार्यों तथा भगवान् श्रीकाशीविश्वनाथजी के युगलचरणकमलों में प्रार्थना करते हैं। इति शिवम्।

भगवत्पादीय

स्वामिसत्यानन्दगिरि

श्रीस्वामिभोलानन्दविद्याभवन

बी८/४१, बाड़ा गंभीर सिंह

वाराणसी (उ.प्र.)

रक्षाबन्धन

विक्रमी सम्वत्-२०६२

शाङ्कराब्द-१२१८

दिनाङ्क - १९.८.२००५

अनुक्रमणिका

क्रमाङ्कः	विषयः	पृष्ठाङ्कः
१.	मङ्गलाचरणम्	१-२०
२.	ग्रन्थारम्भप्रयोजनम्	२१-२२
३.	द्वैतमिथ्यात्वोपपादनम्	२३-३६
४.	विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य विचाराङ्गत्वे पूर्वपक्षः	३७-३८
५.	विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य विचाराङ्गत्वे सिद्धान्तपक्षः	३९-४४
६.	मिथ्यात्वानुमाने सामान्याकारविप्रतिपत्तिः	४५-५३
७.	सामान्याकारविप्रतिपत्तिवाक्यघटकपदानां व्यावृत्तिः	५४-६०
८.	मिथ्यात्वे विशेषविप्रतिपत्तिः	६१-६२
९.	विप्रतिपत्तौ प्राचां प्रयोगाः	६३-६३
१०.	पक्षतावच्छेदकविचारः	६४-११०
११.	प्रथमपरिशिष्टे — प्रश्नोत्तरी	१११-१२१
१२.	द्वितीयपरिशिष्टे — सङ्केतानां विवरणम्	१२२

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

अद्वैतसिद्धिः

प्रथमः परिच्छेदः

मङ्गलाचरणम्

मायाकल्पितमातृतामुखमृषाद्वैतप्रपञ्चाश्रयः,

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिब्रह्मानन्दसरस्वतीविरचिता अद्वैतसिद्धिव्याख्या
लघुचन्द्रिका

‘नमो नवघनश्यामकामकामितदेहिने । कमलाकामसौदामकणकामुकगेहिने ॥ १ ॥

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिकृता

सत्यानन्दप्रबोधिका

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ध्यायेन्नित्यम्महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं

रत्नाकल्पोज्ज्वलङ्गम्परशुमुगवराभीतिहस्तम्प्रसन्नम् ।

पद्मासीनं समन्तात्स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृतिं वसानं

विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं निखिलभयहरम्पञ्चवक्त्रन्निनेत्रम् ॥

अरुणकिरणजालैरञ्जिता सावकाशा

विधूतजपवटीका पुस्तिकाभीतिहस्ता ।

इतरकरवराढ्या फुल्लकल्हारसंस्था

निवसतु हृदि बाला नित्यकल्याणशीला ॥

उद्धृत्य वेदपयसः कमलामिवाब्धेरुलिङ्गिताखिलजगत्प्रभवैकमूर्तिम् ।

विद्यामशेषजगतां सुखदामदाद्यस्तं शङ्करं विमलभाष्यकृतं नमामि ॥

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं

द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।

एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं

भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥

श्री विष्णुपुराण में भगवान् शब्द की व्याख्या करते हुए श्रीवेदव्यास जी कहते हैं —

उत्पत्तिं च प्रलयं च भूतानामागतिं गतिम् ।

वेति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥ (विष्णु पुराण — ६-५-७८)

१. विद्योत्पत्तावन्तरायविधातायादौ इष्टदेवतानमस्कृतिरूपं मङ्गलाचरणं शिष्टाचारप्रमाणकं मुखतः समाचरन् शिष्यशिक्षायै निबध्नाति लघुचन्द्रिकाकारः—नम इति ।

सत्यानन्दप्रबोधिका

इसी प्रकार भगवान् शब्द पर विचार करते हुए और भी कहा है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।

वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीरणा॥ (विष्णु पुराण —६-५-७४)

ऐसे भगवान् के जो लीला विग्रह हैं। उनमें से श्रीकृष्णावतार रूप से जो लीला विग्रह है। वहीं लीला विग्रह ही लघुचन्द्रिकाकार श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिब्रह्मानन्दसरस्वती जी के उपासना का केन्द्र है। अतः सर्वप्रथम आचार्यप्रवर विद्या की उत्पत्ति और ग्रन्थ की समाप्ति आदि में आने वाले विघ्नों के विघात के लिए और शिष्य शिक्षा के लिए इष्ट देवता के नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण को ग्रन्थ में संघटित करते हैं। मङ्गलाचरण के प्रारम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण का लीला विग्रह (शरीर) कैसा है? इस पर कह रहे हैं कि वह लीला विग्रह नवीन बादल के समान श्यामवर्ण से युक्त है और वह लीला विग्रह लोकोत्तर अर्थात् अत्यधिक सुन्दर होने के कारण उसकी कामना सौन्दर्य के अधिष्ठाता कामदेव को भी है। अर्थात् वह लीला विग्रह कामदेव के द्वारा भी कामित है। ऐसे लीला विग्रहधारी भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है। यहां पर प्रश्न होता है कि “नवघनसदृशः श्यामः = नवघनश्यामः, नवघनश्यामश्चासौ कामकामितदेहश्च = नवघनश्यामकामकामितदेहः। तदस्यास्तीत्यर्थे मत्वर्थीये इन् प्रत्यये क्रियमाणे— नवघनश्यामकामकामितदेही, तस्मै = नवघनश्यामकामकामितदेहिने।” इस प्रकार से यह देखा गया कि— “नवघनश्यामकामकामितदेहिने” इस स्थल पर पहले कर्मधारय समास किया गया, उसके पश्चात् मत्वर्थीय इन् प्रत्यय किया है। जब कि यह नियम है—“न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुब्रीहिश्चेतदर्थप्रतिपत्तिकरः।” अर्थात् व्याकरणशास्त्र में पञ्चवृत्ति कही गयी है— “कृतद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्चवृत्तयः”। जब एक ही वृत्ति से अर्थ बोध हो जा रहा हो तो दो वृत्ति के सहारे अर्थ बोध करना गौरव है। जैसे—पीताम्बरं यस्य सः पीताम्बरः। इस प्रकार एक ही वृत्ति (समासरूपावृत्ति) से अर्थबोध हो गया तब—पीतं च तदम्बरं च = पीताम्बरम्। तस्यास्तीति पीताम्बरवान्—इस प्रकार दो वृत्ति (समासवृत्ति और तद्धितवृत्ति) की कल्पना करने पर गौरव दोष माना जाता है। ठीक इसी प्रकार प्रकृत में कर्मधारय समास करके पुनः मत्वर्थीय इन् प्रत्यय करने पर जो अर्थ निकलता है, वही अर्थ बहुब्रीहि समास (नवघनश्यामः कामकामितः देहः यस्य सः— इस प्रकार से त्रिपद बहुब्रीहि समास) से निकल जाने से मत्वर्थीय इन् प्रत्यय करने की आवश्यकता न रह जाने के कारण लाघव है। इस प्रकार व्याकरण के उक्त अनुशासन से विरोध हो रहा है। इस प्रश्न का समाधान यह है कि मत्वर्थीय इन् प्रत्यय यहां पर प्रशंसा अर्थ में किया गया है। जैसा कि कहा गया है—

भूम—निन्दा—प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।

संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

अतः प्रशंसा अर्थ में मत्वर्थीय इन् प्रत्यय होने से भगवान् के लीलाविग्रह का जो लोकोत्तर सौन्दर्य प्रकट हो रहा है। वह केवल बहुब्रीहि समास से नहीं निकलता है। अतः कर्मधारय समास करके मतुप् प्रत्यय करना सार्थक है।

कमलाकामसौदामकणकामुकगेहिने—कमलां—धनादिसम्पल्लक्षणां लक्ष्मीं कामयते असौ (कर्मण्यण्— पा.सू.३-२-१) कमलाकामः। सुदामा—अण् (स्वार्थेऽण्) = सौदामः। कमला—कामश्चासौ सौदामश्च = कमलाकामसौदामः। तस्य कणाः कमलाकामसौदामकणाः, तेषां

लघुचन्द्रिका

‘श्रीनारायणतीर्थानां गुरुणां चरणस्मृतिः। भूयान्मे साधिकेष्टानामनिष्टानां च बाधिका॥ २॥
अद्वैतसिद्धिव्याख्यानं ब्रह्मानन्देन भिक्षुणा। साक्षिप्तचन्द्रिकार्थेन क्रियते लघुचन्द्रिका॥ ३॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

कामुकः—कमलकामसौदामकणकामुकः, स चासौ गेही (गेहित्वोचितातिथिसत्कारपूर्वकतद्वाञ्छा—पूरणशीलः) तस्मै—कमलकामसौदामकणकामुकगेहिने = श्रीकृष्णाय नमः। यद्यपि कमलकाम का अन्वय गेही (श्रीकृष्ण) के साथ भी किया जा सकता है, तथापि कमला (लक्ष्मी) उनकी नित्य सहचरी है। जो नित्य प्राप्त है उसकी इच्छा होती नहीं है, क्योंकि अप्राप्त की इच्छा होती है। इस अरुचि के कारण पूर्वोक्त विग्रह में कमलकाम का सुदामा के साथ अन्वय श्रीमद्भागवत महापुराण के इस श्लोक को ध्यान में रखकर किया गया है—

सर्वभूतात्मदृक् साक्षात् तस्यागमनकारणम्।

विज्ञायाचिन्तयन्नायं श्रीकामो माभजत्पुरा॥ (श्रीमद्भागवत १०-८१-६)

इस श्लोक में श्रीकाम शब्द सुदामा के लिए प्रयोग किया गया है। श्रीसुदामा चरित्र पर विशेष विचार श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्द के ८० और ८१ अध्याय में वर्णित है। अतः उक्त स्थल पर ही देख लेना चाहिए। अतः श्लोकस्थ द्वितीय पंक्ति का अर्थ हुआ—धनादि सम्पत्ति स्वरूपा लक्ष्मी की कामना वाला सुदामा के दूटे हुए मुट्ठीभर चावल के कामुक और सद्गृहस्थ भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है। लघुचन्द्रिकाकार के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से मङ्गलाचरण करने के भाव को स्पष्ट करते हुए पण्डितप्रवरश्रीविद्वत्तलेश उपाध्याय जी ने इस प्रकार से उचित ही कहा है—पूर्व स्वाभिलषितप्राप्तिहेत्वदृष्टविरहेऽपि तत्काल एव पृथुकादानादिना (अल्पदानादिना) अपि तादृशादृष्टं सम्पाद्य याचकाभीष्टदत्त्वेन लोकविलक्षणो दाता (श्रीकृष्णः) अस्माकमपीष्टमवश्यं दास्यतीति भावः॥१॥

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ (श्वे. उ. ६/२३)

इस श्रुति के द्वारा उक्त नियम का अनुसरण करते हुए और गुरुभक्ति विद्या प्राप्ति का अन्तरङ्ग साधन है। इसको बोधित करते हुए लघुचन्द्रिकाकार श्रीगुरुदेव का स्मरण करते हुए कह रहे हैं कि गुरुदेव श्रीनारायणतीर्थ जी के चरणों का स्मरण मेरे इष्टार्थ (ग्रन्थोपपादक युक्तियों) का साधक और अनिष्टार्थ (विघ्नों) का बाधक हो॥२॥

“ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्चतुष्टये। आश्रमोऽस्त्री”—इस अमरकोष के अनुसार भिक्षु शब्द चतुर्थ आश्रमी का बोधक है। इस श्लोक में लघुचन्द्रिकाकार ने स्वयं अपने नाम के साथ भिक्षु शब्द का प्रयोग कर अपने को चतुर्थ आश्रमी अर्थात् सन्यासी बोधित किया है। चतुर्थ आश्रमी सांसारिक ममता आदि से रहित वेदार्थनिष्ठ होता है। अतः वह जो कहेगा, वह श्रुति संमत तथा निष्पक्ष और युक्ति सङ्गत ही होगा। इसी भाव से कह रहे हैं कि स्वामी ब्रह्मानन्द भिक्षु के द्वारा अद्वैतसिद्धि की व्याख्या रूपा लघुचन्द्रिका की रचना की जा रही है।

१. गुरुभक्तेर्विद्याप्राप्तावन्तरङ्गसाधनत्वं ख्यापयितुं गुरुं स्मरति—श्रीनारायणतीर्थानामिति।

२. आचार्यचरणस्मृतिफलमाह—साधिकेत्यादिना। इष्टानामिति=ग्रन्थोपपादकतर्कानामित्यर्थः। अनिष्टानामिति=विघ्नानामित्यर्थः।

३. सद्गृहीतगुरुचन्द्रिकार्थेनेत्यर्थः।

सत्यज्ञानसुखात्मकःश्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरः।

लघुचन्द्रिका

विष्णुः व्यापकं जीवस्वरूपम्, मोक्षं प्राप्त इव स्वयं विजयते। कीदृशो विष्णुर्मोक्षं प्राप्त इव?

तत्राह—अखण्डधीगोचर इति। संसर्गाविषयकमनोवृत्तिविशेषविषयीभूत इत्यर्थः। १२॥

ननु तादृशधीविषयत्वे मोक्षप्राप्तिं प्रति नोद्देश्यतावच्छेदकत्वसम्भवः; उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्वस्य विधेयगतत्वेन व्युत्पत्तिसिद्धस्य प्रकृते बाधात्। यदा हि तादृशधीविषयीभूत

सत्यानन्दप्रबोधिका

जिसमें अपने ही द्वारा पूर्व रचित “गुरुचन्द्रिका” नाम की टीका के भावों को सुव्यवस्थित किया गया है। १३॥

आचार्यप्रवरश्रीमत्स्वामिभुसूदनसरस्वती द्वारा प्रणीत अद्वैतसिद्धि के प्रथम मङ्गल श्लोक में स्थित विष्णु शब्द का अर्थ व्यापक जीव किया गया है। अर्थात् देशतः, कालतः और वस्तुतः अपरिच्छिन्न व्यापक जीव है। जीवगत व्यापकत्व सिद्ध हो जाने से जीव के अणुत्ववाद का खण्डन हो गया। यदि विष्णु शब्द का अर्थ योगरुद्धि वृत्ति के द्वारा नारायण—ईश्वर किया जाता तब तो विष्णु के साथ “मोक्षं प्राप्त इव” की सङ्गति नहीं होगी, क्योंकि वह (ईश्वर) तो नित्य मुक्त है। वस्तुतः वह जीव सदा मुक्त होने पर भी मिथ्याभूत अज्ञान के रहने के कारण “मैं बद्ध हूँ” ऐसा भ्रम जीव को होता है। अतः उस मिथ्याभूत अज्ञान की निवृत्ति से मुक्त जैसा माना जाता है। वह स्वेतरप्रकाशानपेक्ष होकर प्रकाशित हो रहा है। उस व्यापक जीव (विष्णु) का विशेषण है— अखण्डधीगोचरः। उसका अर्थ है— महावाक्य से जन्य अन्तःकरण की संसर्गाविषयक अखण्डाकार मनोवृत्ति विशेष का विषय। यहां पर मनोवृत्ति में विशेषता है—महावाक्य जन्यता। १४॥

मायाकल्पितमातृता..... इस पद्य में स्थित “अखण्डधीगोचरो विष्णुः मोक्षं प्राप्तः” इतने भाग पर विचार प्रारम्भ किया जा रहा है। इस वाक्यांश में दो भाग हैं। प्रथम—उद्देश्य = अखण्डधीगोचर, अतः उद्देश्यतावच्छेदक = अखण्डधीगोचरत्व और द्वितीय भाग है— मोक्ष प्राप्ति जो कि विधेय है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व का विधेय में भान होना चाहिए। अर्थात् उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय को एक काल में उद्देश्य में भासना चाहिए— ऐसा नियम अनुभव सिद्ध है। जैसे वैराग्यवान् सुखी। यहां पर वैराग्यवत् पदार्थ उद्देश्य है, उद्देश्यता वैराग्यवन्निष्ठा है, उद्देश्यतावच्छेदक वैराग्य है और विधेय सुख है। ऐसे स्थल पर उद्देश्य वैराग्यवान् चैत्रादि में एक ही काल में वैराग्य और सुख दोनों रहते हैं। ऐसा नहीं होता कि चैत्रादि में जिस काल में वैराग्य न हो उस काल में चैत्रादि में सुख रहता हो। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि उद्देश्यतावच्छेदक का जो काल है उसी काल से अवच्छिन्न होकर विधेय को उद्देश्य में भासना चाहिए। इस नियम को न मानने पर “गन्धप्रागभावविशिष्टो घटो गन्धवान्” यह वाक्य भी शुद्ध होने लगेगा। उक्त नियम को मानने पर इस वाक्य को शुद्ध नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि यहां उद्देश्यतावच्छेदक

१. विशेषत्वमत्र महावाक्यजन्यत्वम्।

२. औत्सर्गिकनियमेत्यर्थः। धूमवान् पर्वतो वह्निमानित्यादौ व्युत्पत्तिसिद्धत्वादित्यर्थः।

लघुचन्द्रिका

आत्मा, तदा तस्य न मोक्षः; तस्याविद्यारूपबन्धशून्यात्मरूपत्वात्। तदुक्तं वार्तिके—“अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः।” इति, “निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः।” इति च। अविद्याया अस्तमयः संस्कारादिकार्यरूपेणाप्यनवस्थानम्। सा स्थूलरूपा, संस्कारादिरूपा च। तथाच विदेहताकालीनोऽस्तमय एव मुख्यो मोक्षः॥२॥

ज्ञातत्वोपलक्षित आत्माऽपि विदेहताकालीन एव। जीवन्मुक्तिकालीनस्य ज्ञातत्वोपहितत्वस्यापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

गन्धप्रागभाव और विधेय गन्ध ये दोनों एक काल में उद्देश्य घट में भासते नहीं। अर्थात् उद्देश्यतावच्छेदक कालावच्छिन्नत्व का विधेय में भान नहीं होता है। पूर्वोक्त नियम का दार्ष्टान्त में समावेश नहीं हो रहा है, क्योंकि उक्त नियम के आधार पर उद्देश्यतावच्छेदक—अखण्डधीगोचरत्व जिस काल में (जीवन्मुक्तिकाल में) उद्देश्य—आत्मा में है उसी काल में मोक्ष प्राप्ति नहीं है, क्योंकि स्थूलाविद्या के न रहने पर भी संस्काररूपी सूक्ष्माविद्या (अविद्यालेश) रहती ही है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि “जीवन्मुक्त” इस व्यवहार के आधार पर स्थूलाविद्या की निवृत्ति को ही मोक्ष मान लिया जाय। ऐसा मान लेने पर उद्देश्य=आत्मा में उद्देश्यतावच्छेदक और मोक्ष दोनों एक काल में रह जाने से उक्त नियम से विरोध नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि स्थूलाविद्या और सूक्ष्माविद्या दोनों के अभाव वाला आत्मा का स्वरूप ही मोक्ष है। जैसा कि आप के पूर्वाचार्यों ने कहा है—स्थूल और सूक्ष्म (अविद्या और अविद्या का संस्कार) उभय प्रकार की अविद्या का अभाव ही मोक्ष पदार्थ है और अविद्या ही बन्ध है। श्रीचित्सुखाचार्य ने भी चित्सुखी के चतुर्थ परिच्छेद के अष्टम श्लोक में कहा है—

निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः।

उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्तः पाचकादिवत्॥

(ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा ही मोक्षनिवृत्तिरूप माना जाता है। उपलक्षण का नाश हो जाने पर भी पाचकादि के समान मुक्त पुरुष बना ही रहेगा।)

प्रथम वार्तिक में अविद्यारूपबन्धशून्यत्व को मोक्ष पदार्थ कहा गया है। द्वितीय वार्तिक में मोह (अविद्या) की निवृत्ति को मोक्ष कहा गया है। वह ज्ञातत्व (अखण्डधीगोचरत्व) उपहित आत्मा नहीं है किन्तु ज्ञातत्वेन उपलक्षित आत्मस्वरूप ही है। वह शुद्ध आत्मा से भिन्न पदार्थ नहीं है। “संस्कारादिकार्यरूपेणापि” में “अपि” पद से कारणरूपा मूलाविद्या का ग्रहण किया गया है। अतः अविद्यास्तमय का अर्थ होगा— कारणरूपी मूलाविद्या (स्थूलरूपा) और संस्कारादिरूपी कार्यरूपाविद्या जो है, उस उभय प्रकार की अविद्या का अभाव। जीवन्मुक्ति अवस्था में संस्कारादिरूपी कार्यरूपा अविद्या रह जाती है। अतः उस समय दोनों प्रकार की अविद्या का अस्तमय न होने के कारण तत्कालीन आत्मा अविद्यारूप बन्ध शून्यात्मा नहीं है। अतः यह सिद्धान्ती को स्वीकार करना पड़ेगा कि विदेहताकालीन अविद्या सामान्य का अस्तमय ही मुख्य मोक्ष है॥२॥

अब तक “अविद्यास्तमयो मोक्षः.....” इस कथन के अनुसार मोक्ष पदार्थ का निरूपण किया गया। अब आगे कहने जा रहे हैं कि यदि “निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः.....” इस श्रीचित्सुखाचार्य के कथनानुसार ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा को मोक्ष स्वीकार करना

लघुचन्द्रिका

कदाचित्सम्भवेन ज्ञातत्वेनोपलक्षितत्वस्य सर्वदाऽसम्भवात्तदुपलक्षितस्यैव मोहनिवृत्तित्वम्। जीवन्मुक्तौ संस्कारादिरूपेण मोहसत्त्वात्, स्थूलज्ञाननिवृत्तेस्तत्त्वज्ञान विशेषादिमनपरिणामरूपतासम्भवेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

है तो ज्ञातत्व से उपलक्षित आत्मा भी विदेहकालीन ही लिया जायेगा, क्योंकि ज्ञातत्व से उपलक्षित आत्मा विदेहकाल में ही होता है। जीवन्मुक्ति कालीन आत्मा में ज्ञातत्व (अखण्डधीगोचरत्व) से उपलक्षितत्व का भी कदाचित् सम्भव होने से ज्ञातत्व से उपलक्षितत्व का सदा होना असम्भव है। अर्थात् जीवन्मुक्ति अवस्था में समाधि न लगने के कारण जब अखण्डाकारचित्तवृत्ति नहीं बनती है, अपितु प्रपञ्चाकार वृत्ति बनती रहती है तब आत्मा को ज्ञातत्वोपलक्षित कहा जा सकता है। किन्तु जब समाधि लगी और अखण्डाकार—चित्तवृत्ति बनी तब तो आत्मा को उस अखण्डाकारचित्तवृत्ति से विशिष्ट या उपलक्षित भी मानना पड़ेगा। अतः जीवन्मुक्ति काल में सर्वदा ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मरूपता सम्भव नहीं हो सकती है। “सर्वदाऽसम्भवात्” में सर्वदा पद क्यों दिया गया? इसका कारण यह है कि यदि कोई शङ्का करता है कि ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा विदेह काल में ही होता है—ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीवन्मुक्ति काल में जब समाधि नहीं लगी है तब ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा होगा ही, क्योंकि समाधि अवस्था में अखण्डाकारचित्तवृत्ति बनी और बाद में समाधि भङ्गावस्था में नहीं रही, उस समय ज्ञातत्व से उपलक्षित आत्मा कहा ही जा सकता है। इस शङ्का का परिहार करने के लिए सर्वदा पद दिया गया है। अर्थात् जीवन्मुक्ति अवस्था में सर्वदा ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा नहीं हो सकती है। केवल विदेहावस्था में ही सर्वदा ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा होती है और वही मोक्ष है। न्यायभाषा में उपलक्षितत्व का अर्थ है—स्वपूर्वकालीनप्रतियोगिसमानाधिकरण—तदभाववत्त्वम्। स्व= तदभाव=उपलक्षणाभाव। उसका प्रतियोगी =उपलक्षण। उपलक्षण को स्वपूर्वकालीन (उपलक्षणाभाव से पूर्व में रहने वाला) होना चाहिए। अर्थात् उपलक्षण काल में अधिकरण को उपलक्षित नहीं कहा जायेगा। अतः जिस अधिकरण में उपलक्षणाभाव के काल से पूर्व काल में उपलक्षण रहा हो उसी अधिकरण में रहने वाला जो उपलक्षणाभाव है। उस उपलक्षणाभाव वाले को उपलक्षित कहा जाता है। इसलिए सर्वदा उपलक्षितत्व का अर्थ होगा—स्वपूर्वकालीनप्रतियोगिसमानाधिकरणतत्प्रागभावासमानकालीनो यः तदभावः तद्वत्त्वम्। अर्थात् उपलक्षणाभाव को उपलक्षणप्रागभावासमानकालीन होना चाहिए। यदि उपलक्षणाभाव जिस काल में अधिकरण में है उस काल के पश्चात् उस अधिकरण में यदि उपलक्षण आ जाय तब उपलक्षणाभाव जिस समय रहेगा, उस समय उस अधिकरण में उपलक्षणप्रागभाव रहेगा। अतः वह उपलक्षणाभाव उपलक्षणप्रागभावसमानकालीन हो गया। जब यह कह दिया गया कि उपलक्षणाभाव उपलक्षणप्रागभाव का असमानकालीन होना चाहिए, तब इस कथन से यह अर्थ निकलता है कि भविष्य में कभी भी अधिकरण में उपलक्षण नहीं आयेगा। ऐसा होने पर ही अधिकरण को सर्वदा ज्ञातत्वोपलक्षित कहा जायेगा। ऐसे ही अधिकरण (आत्मा) को मुक्त कहा जायेगा। जीवन्मुक्तिकालीन उपलक्षणाभाव के (जिस समय= समाधि भंग काल में अखण्डाकारचित्तवृत्ति नहीं बनी है उसके) आगे (भविष्य में) कदाचित् पुनः समाधि लग जाने पर समाधि अवस्था में उपलक्षण (ज्ञातत्व) पुनः आ ही सकता है। इसलिए जीवन्मुक्तिकालीन आत्मा सर्वदा ज्ञातत्वोपलक्षित न रहने के कारण जीवन्मुक्ति कालीन आत्मा को मोक्ष प्राप्त

लघुचन्द्रिका

ज्ञातात्मरूपत्वासम्भावाच्च। नचोक्तविषयत्वक्षण एव तादृशाविद्यास्तमयः सम्भवति;
'चरमधीरूपविद्यावतः क्षणस्याविद्यातत्प्रयुक्तदृश्यविशिष्टकालपूर्वत्वाभावनियमेन सिद्धस्या—

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं कहा जा सकता है अतः उद्देश्यतावच्छेदक और विषेय एक काल से अवच्छिन्न होकर उद्देश्य में न भासने के कारण मङ्गलाचरण का उक्त वाक्यांश असङ्गत है। पूर्वपक्षी के कथन का यही भाव है। जीवन्मुक्ति में जिस समय अखण्डाकारचित्तवृत्ति रूप उद्देश्यतावच्छेदक रहता है। उस समय मुक्ति नहीं होती है। इसको आगे स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जीवन्मुक्ति में स्थूल अविद्या के न रहने पर भी सूक्ष्म अविद्या के रहने के कारण आत्मा को मुक्तात्मा नहीं कहा जा सकता है। स्थूल अविद्या की निवृत्ति को तो अखण्डाकारचित्तवृत्तिरूप तत्त्वज्ञानात्मक ही माना जाता है, ज्ञातात्मरूप=मुक्तात्मस्वरूप (शुद्धात्मस्वरूप) नहीं माना जाता है, यहां पर प्रश्न होता है कि स्थूल अज्ञान की निवृत्ति तत्त्वज्ञानविशेष मनःपरिणाम रूप नहीं है अपितु तत्त्वज्ञान का कार्य अज्ञाननिवृत्ति है। ऐसा नियम होने से मूल में स्थूल अज्ञान की निवृत्ति को तत्त्वज्ञान विशेष मनःपरिणामरूप कैसे कह दिया गया? इसका समाधान यह है कि स्थूल अज्ञान की निवृत्ति अधिकरण स्वरूप होने के कारण ज्ञातात्मरूप (शुद्ध-आत्मस्वरूप) माना जाता है उक्त मनःपरिणाम से स्थूलज्ञान की निवृत्ति होती है, और कार्यकारण में अभेद माना जाता है। इसलिए स्थूलज्ञाननिवृत्ति को तादृश मनःपरिणाम स्वरूप कहा गया है। इस पर पुनः प्रश्न होता है कि विदेह काल में जब आत्मा शुद्ध है, उस समय स्थूल अज्ञान की निवृत्ति भी है। उस स्थूलज्ञान की निवृत्ति को अधिकरण स्वरूप (आत्मस्वरूप) मानकर जैसे विदेह कालीन आत्मा को शुद्ध-आत्मा माना जाता है वैसे ही जीवन्मुक्तिकालीन आत्मा को भी स्थूलज्ञान निवृत्तिकाल में शुद्धात्मस्वरूप क्यों न मान लिया जाय? इसका समाधान यह है कि जीवन्मुक्ति काल में अखण्डाकारचित्तवृत्ति की विषयता के समय आत्मा में अविद्या सामान्य का अभाव नहीं होता है, क्योंकि अखण्डाकारचित्तवृत्ति जो कि उस समय विद्यमान है, वह स्वयं ही अविद्या का कार्य है। जीवन्मुक्ति के समय जिस क्षण में आत्मा अखण्डाकारचित्तवृत्ति का विषय है उसी क्षण में कार्यकारणोभयात्मक— अविद्यास्तमय सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि सिद्धान्ती का ही यह नियम है कि शरीर छूटते समय अन्तिम बार जब अखण्डाकारचित्तवृत्ति बनेगी, उस चरम—अखण्डाकारचित्तवृत्ति विशिष्ट क्षण में अविद्या और अविद्या से प्रयुक्त दृश्य इन दोनों से विशिष्ट काल से पूर्वभावित्वाभाव का नियम है। कहने का तात्पर्य यह है कि चरम अखण्डाकारचित्तवृत्ति जिस क्षण में उत्पन्न होती है, ठीक उसके द्वितीय क्षण में अविद्या सामान्य का अभाव हो जाता है। ऐसा होने से यह स्वतः ही सिद्ध हो गया कि चरम—अखण्डाकारचित्तवृत्ति के उत्तर का क्षण अविद्या और अविद्या के कार्य से विशिष्ट नहीं हो सकता है। इसी प्रकार यह भी सिद्ध हो गया कि जिस क्षण में अविद्या और अविद्या प्रयुक्त दृश्यादि का अभाव है, उसी क्षण में चरम—अखण्डाकारचित्तवृत्ति भी नहीं रहेगी। अतः विद्या क्षण (चरम—अखण्डाकारचित्तवृत्ति के क्षण) में विदेहताकालीन

१. चरमधीरूपविद्यावत्क्षणनिष्ठो योऽविद्या तत्प्रयुक्तदृश्यविशिष्टकालपूर्वत्वाभावनियमः तेन सिद्धो योऽविद्यास्तमयस्तस्येत्यर्थः।

मिथ्याबन्धविधूननेन परमानन्दैकतानात्मकम्,
मोक्षं प्राप्त इव स्वयं विजयते विष्णुर्विकल्पोज्झितः॥ १ ॥

लघुचन्द्रिका

विद्यास्तमयस्य विदेहताकालीनस्य विद्यावति क्षणे सम्भवाभावात् ॥३॥

अत आह—मिथ्याबन्धविधूननेन—विकल्पोज्झित इति। ब्रह्मात्मैक्याज्ञानरूपबन्धस्य तादृशास्तमयेन दृश्यशून्य इत्यर्थः। अत्र बन्धस्य मिथ्यात्वोक्त्या तदुच्छेदस्य ज्ञानाधीनत्वज्ञापनेन न ज्ञानोत्पत्तिकालीनत्वमिति ज्ञापितम्। तथाच विधेय उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व—बोधस्यौत्सर्गिकत्वात् सर्गाद्यकालीन—द्व्यणुकपक्षकजन्यता सम्बन्धेन कर्तृसाध्यकानुमितौ निरवच्छिन्ने

सत्यानन्दप्रबोधिका

अविद्यास्तमय (अविद्या सामान्य का अभाव) का अभाव होने से पूर्वोक्त नियमानुसार उद्देश्यतावच्छेदक कालावच्छिन्नत्व विधेय में सिद्ध न होने से मङ्गलाचरण का उक्त वाक्यांश (अखण्डधीगोचरो विष्णुः मोक्षं प्राप्त इव) असङ्गत सिद्ध हो गया॥३॥

पूर्वोक्त शङ्का के निराकरण की दृष्टि से मूल में अद्वैतसिद्धिकार ने कहा—“मिथ्याबन्ध—विधूननेन विकल्पोज्झित इति।” यहां मिथ्याबन्ध का अर्थ है—ब्रह्मात्मैक्य का अज्ञान रूप बन्धन। विधूनन का अर्थ है—अविद्याद्वय की निवृत्ति। विकल्पोज्झित का अर्थ है—अविद्या प्रयुक्त दृश्य रहित। यहां पर ब्रह्मात्मैक्याज्ञानरूप बन्धन में मिथ्यात्व के कथन से तत्त्वज्ञान के द्वारा उक्त बन्धन की उच्छेद्यता ज्ञापित होती है। अर्थात् अविद्यास्तमय के प्रति तत्त्वज्ञान हेतु है। अतः कार्यरूप अविद्यास्तमय के पूर्वक्षण में तत्त्वज्ञानरूपकारण रहेगा। इसलिए तत्त्वज्ञान के क्षण में अविद्यास्तमय नहीं रहेगा। इसलिए “अखण्डधीगोचरो विष्णुः मोक्षं प्राप्त इव” इस स्थल पर उद्देश्यतावच्छेदक (अखण्डधीगोचरत्व) के काल से अवच्छिन्न होकर विधेय (मोक्ष या अविद्यास्तमय) का उद्देश्य (आत्मा) में न भासना अभीष्ट ही है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उद्देश्यतावच्छेदक कालावच्छिन्नत्व का विधेय में भान होने का पूर्वोक्त नियमानुसार यहां पर दोष होगा। तब इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वह नियम सार्वत्रिक नहीं है किन्तु औत्सर्गिक (असति बाधके प्रवर्तमानत्वमौत्सर्गिकत्वम्) है। औत्सर्गिक नियम वहीं पर लगता है जहां कोई बाधक नहीं होता है। बाधक के आ जाने पर औत्सर्गिक नियम नहीं लगता है। प्रकृत में तत्त्वज्ञान हेतु है और अविद्यास्तमय कार्य है। कार्य—कारण एक क्षण में माना नहीं जाता है। इस बाधक के आधार पर पूर्वोक्त नियम का प्रकृत में बाध हो गया। पूर्वोक्त नियम बाधक के उपस्थित होने पर बाधित हो जाता है। अर्थात् पूर्वोक्त नियम औत्सर्गिक है। इसमें नैयायिकों की सम्मति दिखलाते हुए कह रहे हैं कि नैयायिकों के द्वारा जब यह अनुमान किया जाता है—सर्गाद्यकालीन द्व्यणुकं जन्यतासम्बन्धेन कर्तृमत् (अर्थात् कर्तृजन्यम्) कार्यत्वात्, घटवत्। यहां पर साध्य (विधेय)—ईश्वर जो कि निरवच्छिन्न कर्ता है, और उद्देश्य (पक्ष)—द्व्यणुक है। उद्देश्यतावच्छेदक काल—सर्गाद्यकाल है। तत्कालावच्छिन्नत्व ईश्वर (विधेय) में नहीं रह सकता है, क्योंकि ईश्वर काल से परिच्छिन्न नहीं होता है अपितु निरवच्छिन्न होता है। इस प्रकार से बाध के विद्यमान होने के कारण उक्तानुमान में जैसे विधेयगत उद्देश्यतावच्छेदक कालावच्छिन्नत्व का नियम नहीं माना जाता है। ठीक उसी प्रकार प्रकृत में भी विधेयगत (मोक्ष में) उद्देश्यतावच्छेदक (अखण्डधीगोचरत्व) कालावच्छिन्नत्व का बाध नहीं हो सकता है, क्योंकि बाध दोष आ रहा है। यहां बाध यही है कि तत्त्वज्ञान अज्ञाननिवृत्ति का हेतु है। इसलिए दोनों

लघुचन्द्रिका

कर्तरी विधेये तादृशकालावच्छिन्नत्वबाधवत्प्रकृतेऽपि तस्य बाधितत्वान्न तत्र तद्वोधः॥१४॥

अत्र बन्धविधूननमविद्या—तत्कार्यशून्यत्वम्, दृश्यशून्यत्वम् अनादिसाधारणदृश्यशून्यत्वमिति तयोर्भेदः। विधूननेनेति तृतीया ज्ञापकहेतौ, नतु—कारकहेतौ। नञ्नाविद्याया अस्तमयो नाम व्यावहारिकध्वंसरूपो विद्याजन्योऽस्मत्सिद्धान्ते स्वीक्रियते, दृश्यान्तरध्वंसो वा तज्जन्यः; तथा सति तस्य निवर्तकाभावेन “विद्यानामरूपाद्विमुक्तः” इत्यादि श्रुतिबोधितस्य विदुषि सर्वदृश्योच्छेदस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

(कार्य और कारण) एक काल में नहीं रह सकते हैं॥१४॥

आगे दो प्रकार के कार्यकारणभाव को लक्ष्य करके विचार प्रारम्भ किया जा रहा है। प्रथम—तत्त्वज्ञान से अविद्यास्तमय (विद्याया अविद्यास्तमयः) द्वितीय—अविद्यास्तमय से शेष दृश्यों का (अनादि—सादि उभय विध दृश्यों का) अस्तमय (बन्धविधूननेन विकल्पोज्झितः)। पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि बन्धविधूननेन का अर्थ (ब्रह्मात्मैक्य का अज्ञान और उसका कार्य जो बन्धन उस बन्धन की निवृत्ति) और विकल्पोज्झित का अर्थ (अविद्या प्रयुक्त अनादि—सादि उभय विध दृश्यों की निवृत्ति) अतः दोनों का अर्थ भिन्न—भिन्न है। मूल में “विधूननेन” का उल्लेख कर तृतीया विभक्ति पर जैसे विचार प्रारम्भ किया गया है, वैसे “विद्याया अविद्यास्तमयः” में “विद्याया” में तृतीया विभक्ति पर भी विचार कर लेना चाहिए। अर्थात् जैसे “विधूननेन” में तृतीया विभक्ति ज्ञापक हेतु में है वैसे ही “विद्याया” में भी तृतीया विभक्ति ज्ञापक हेतु में ही है न कि कारक हेतु में, क्योंकि विद्या से जो अविद्या की निवृत्ति होती है वह अधि—करण (ब्रह्म) स्वरूप होती है। वह ब्रह्मरूप अविद्या—निवृत्ति विद्या से जन्य हो नहीं सकती है, क्योंकि ब्रह्म नित्य है। व्याकरण शास्त्र में “कर्तृकरणयोस्तृतीया” (पा. सू. २-३-१८) इस सूत्र में तृतीया विभक्ति साधकतमत्वरूप जनकत्वरूप अर्थ की बोधिका मानी जाती है। जैसे “दण्डेन घटः” यहां पर तृतीया कारक हेतु में है। इसलिए दण्ड घट का कारक (जनक) माना जाता है। “इत्थंभूतलक्षणे” (पा. सू. २-३-२१) इस सूत्र से विहित तृतीया ज्ञापकत्व रूप अर्थ की बोधिका मानी जाती है, जैसे “धूमेन वह्निः”। यहां पर तृतीया ज्ञापक हेतु में है न कि कारक हेतु में, क्योंकि धूम से वह्नि का ज्ञापन (बोधन) होता है न कि धूम को वह्नि का जनक माना जाता है। (अपितु वह्नि ही धूम का जनक होता है।) इसी प्रकार प्रकृत में भी “विधूननेन” में तृतीया विभक्ति ज्ञापक हेतु में है, कारक हेतु में नहीं, क्योंकि हमारे सिद्धान्त में विद्या से जन्य अविद्यास्तमय को अविद्याध्वंस नामक एक व्यावहारिक पदार्थ उत्पन्न होता है—ऐसा नहीं माना जाता है। इसी प्रकार अविद्यास्तमय से जन्य अनादि—सादि उभयविध दृश्यों का ध्वंस नामक भी व्यावहारिक पदार्थ नहीं माना जाता है। यदि विद्या से जन्य अविद्यास्तमय को अविद्याध्वंस नामक व्यावहारिक पदार्थ तथा अविद्यास्तमय से जन्य दृश्यान्तरध्वंस नामक व्यावहारिक पदार्थ माना जाता है तब तो वह नित्य होकर द्वैतापादक हो जायेगा। अर्थात् चरम तत्त्वज्ञान उक्त व्यावहारिक अविद्याध्वंस का जनक होने के कारण उक्त ध्वंस का नाशक नहीं हो सकता। यदि तत्त्वज्ञान उक्त ध्वंस का नाशक हो जाय तब

१. मोक्षप्राप्तौ २. मोक्षप्राप्तौ ३. उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्वबोधः।

४. अनादिरिति—“जीव ईशो विशुद्धचित् तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्या तच्चित्तोर्योगः षडस्माकमनादयः॥” इत्युक्तेरिति भावः।

लघुचन्द्रिका

बाधापत्तेः। तत्त्वज्ञानोत्पत्तिद्वितीयक्षणे हि तत्त्वज्ञानादिसर्वदृश्यनाशोत्पादाद् उक्तक्षणाद्वितीयक्षणे उक्तनाशस्य नाशोत्पत्त्यसम्भवः; तत्त्वज्ञानजन्यस्य नाशस्यैव तत्त्वज्ञाननाशहेतुत्वे स्वीकृतोऽप्युक्त-
बाधापत्तेस्तादवस्थ्यात्, तत्त्वज्ञानजन्यस्य दृश्यान्तरनाशस्य तत्त्वज्ञानस्य च यो नाशो,
तयोर्नाशकाभावात्, तयोः स्वनाशकत्वस्वीकारोऽप्युक्तापत्तितादवस्थ्यात्, अप्रामाणिकानन्तनाशकल्पने

सत्यानन्दप्रबोधिका

तो एक ही काल में उक्त ध्वंस की उत्पत्ति और नाश मानना पड़ेगा जो कि उचित नहीं है। यदि उक्त दोनों ध्वंस (अविद्याध्वंस और अनादि—सादि दृश्यान्तर ध्वंस) जो व्यावहारिक पदार्थ है वे दोनों तत्त्वज्ञान के पश्चात् भी रह जायेंगे तब तो अद्वैत की हानि होगी और तत्त्वज्ञान के पश्चात् आत्मा को मुक्त नहीं कहा जा सकता है तथा “विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः” (मु.उ. ३-२-८) इस श्रुति के द्वारा बोधित तत्त्वज्ञानिष्ठ जो सर्वदृश्य का उच्छेद है, उसका बाध हो जायेगा, क्योंकि उक्त दोनों ध्वंस रूप दृश्य रह ही गये। तत्त्वज्ञानोत्पत्ति क्षण के द्वितीय क्षण में ही तत्त्वज्ञानादि सर्वदृश्यों का नाश हो जाता है। जिस द्वितीय क्षण में तत्त्वज्ञानादि सहित सर्वदृश्यनाश की उत्पत्ति हुयी उसी द्वितीय क्षण में उक्त नाश का नाश नहीं हो सकता। तृतीय क्षण में उक्त नाश का नाश हो सकता है किन्तु उसका नाश करेगा कौन? अखण्डाकारचित्तवृत्तिरूप तत्त्वज्ञान में ही अविद्या और तत्कार्य को नष्ट करने की सामर्थ्य है, ब्रह्म में नहीं। द्वितीय क्षण में यदि तत्त्वज्ञान रहता है तो तृतीय क्षण में नाश (जो कि द्वितीय क्षण में उत्पन्न हुआ था) का नाश हो सकता था, परन्तु द्वितीय क्षण में ही तत्त्वज्ञान का नाश हो गया। इसलिए उक्त नाश का नाशक कोई रहा ही नहीं। यदि ऐसा कहा जाय कि प्रथम क्षण में तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में तत्त्वज्ञान को छोड़कर शेष दृश्यों का नाश। इस द्वितीय क्षण में दो पदार्थ रहेंगे— प्रथम तत्त्वज्ञान, द्वितीय तत्त्वज्ञानेतर दृश्यनाश। यदि द्वितीय क्षण में तत्त्वज्ञान के रहने के कारण उसके द्वारा तृतीय क्षण में तत्त्वज्ञान से जन्य नाश का नाश हो जायेगा और तत्त्वज्ञान से जन्यनाश के नाश के साथ ही तत्त्वज्ञान का भी नाश हो जायेगा। ऐसा स्वीकार करने पर भी विद्वन्निष्ठ सर्वदृश्योच्छेद के बाधापत्ति की उपस्थिति बनी ही रहेगी। इसमें हेतु देते हुए कह रहे हैं कि तत्त्वज्ञान से जन्य जो तत्त्वज्ञानेतर दृश्य का नाश का नाश और तत्त्वज्ञान का नाश जो तृतीय क्षण में उत्पन्न हो रहे हैं, उन दोनों नाश का नाशक कोई विद्यमान नहीं है। अर्थात् चरमतत्त्व ज्ञान के पश्चात् भी द्वितीय क्षण में तत्त्वज्ञान विद्यमान रहेगा और उसके द्वारा तत्त्वज्ञान से इतर दृश्य का नाश भी द्वितीय क्षण में विद्यमान रहेगा तथा तृतीय क्षण में तत्त्वज्ञान का नाश और तत्त्वज्ञानेतर दृश्य के नाश का नाश भी विद्यमान रहेगा। अतः श्रुति बोधित मुक्तात्मा में नामरूप विमुक्ति का बाध बना ही रहेगा। यदि कहा जाय कि तृतीय क्षण में विद्यमान जो तत्त्वज्ञान का नाश और तत्त्वज्ञानेतर दृश्य के नाश का नाश का नाशक विद्यमान न रहने पर भी वे दोनों अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं— ऐसा मानने पर भी तत्त्वज्ञाननाश का नाश और तत्त्वज्ञानेतरदृश्य के नाश के नाश का नाशक कोई विद्यमान न रहने के कारण उक्त श्रुति के द्वारा बोधित तत्त्वज्ञानिष्ठ सर्वदृश्योच्छेद के बाध की आपत्ति आयेगी। पूर्वोक्त प्रकार से श्रुति—युक्ति आदि से रहित अप्रामाणिक अनन्त नाश (ध्वंस) की कल्पना गौरव ग्रस्त भी है। इसलिए देह छूटते समय होने वाली जो चरम अखण्डाकारवृत्ति को अविद्यादि के नाश के प्रति जनकत्वरूप हेतु नहीं माना जाता है, अपितु

लघुचन्द्रिका

गौरवाच्च। तस्माच्चरमतत्त्वज्ञानस्य 'दृश्याश्रयकालपूर्वत्वाभावनियम एव स्वीक्रियते, न तु नाशहेतुत्वम्। यत्तु—बद्धपुरुषैः प्रातीतिकमस्तमयादिकं कल्प्यते, न तस्य 'नाशहेतुत्वम्'। १५॥

यद्यपि ज्ञापकहेतुत्वमपि दृश्यास्तमयं प्रत्यविद्यास्तमयत्वेन नास्ति; जीवन्मुक्ते प्रातीतिकाविद्यास्तमये तदव्यभिचारित्वात्, जीवन्मुक्ते प्रातीतिकस्य दृश्यास्तमयस्य कल्पने नियमाभावात्; तथापि दृश्यास्तमयकालीनत्वरूपेणाविद्यास्तमयस्य दृश्यास्तमयं प्रत्यस्त्येवेति

सत्यानन्दप्रबोधिका

चरमतत्त्वज्ञान क्षण में दृश्याश्रयीभूत काल से पूर्वत्वाभावरूप नियम को ही स्वीकार किया जाता है। ऐसा अर्थ उक्त तृतीया विभक्ति ज्ञापकत्वार्थ की बोधिका है न कि जनकत्वार्थ की— के आधार पर किया जाता है। अर्थात् जैसे “धूमेन वह्निः” स्थल पर धूम के द्वारा ज्ञापित वह्नि होती है, वैसे ही चरम तत्त्वज्ञान के द्वारा यह ज्ञापित होता है कि उस चरमतत्त्वज्ञान में दृश्याश्रयीभूतकाल से पूर्वत्वाभाव है। अर्थात् चरमतत्त्वज्ञानकाल के पश्चात् कोई भी दृश्य नहीं रहता है। कुछ विद्वानों के द्वारा ‘विधूननेन’ में तृतीया विभक्ति कारक हेतु में है— इसके समर्थन में यह जो कहा जाता है कि मुक्तपुरुष में बद्धपुरुषों के द्वारा अविद्या का प्रातिभासिक ध्वंस माना जाता है। ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञान से यदि अविद्या का प्रातीतिक ध्वंस स्वीकार करेंगे तो उस अविद्या के प्रातीतिक ध्वंस से अविद्या से इतर अनादि—सादि उभयविध दृश्यों का नाश सम्भव नहीं हो पायेगा, क्योंकि नाशक की नाश्य से अधिक सत्ता या सम सत्ता होनी चाहिए। जबकि पूर्वोक्त प्रकार से अर्थ करने पर नाशक=अविद्या का प्रातिभासिक ध्वंस की नाश्य=उभयविध व्यावहारिक ध्वंस की अपेक्षा न्यून सत्ता माननी पड़ेगी। १५॥

यद्यपि अविद्यास्तमयत्वेन अविद्यास्तमय को दृश्यास्तमय के प्रति ज्ञापक हेतु भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जहां पर ज्ञापक हेतु माना जाता है, वहां पर व्याप्ति मानी जाती है। जैसे “धूमेन वह्निः” इस स्थल पर ज्ञापक हेतु धूम के साथ तृतीया विभक्ति आयी है। अतः यहां पर यह व्याप्ति मानी जाती है—“यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः”। ठीक इसी प्रकार प्रकृत में भी अविद्यास्तमयत्वेन अविद्यास्तमय को दृश्यास्तमय के प्रति ज्ञापक हेतु मानने पर यह व्याप्ति माननी पड़ेगी—“यत्र यत्र अविद्यास्तमयत्वावच्छिन्नाविद्यास्तमयः तत्र तत्र दृश्यास्तमयः।” (यहां पर व्याप्यतावच्छेदक—अविद्यास्तमयत्व को लक्ष्य करके व्याप्ति बनायी गयी है।) किन्तु ऐसी व्याप्ति मानने से जीवन्मुक्त गुरु में व्यभिचार हो जायेगा, क्योंकि जीवन्मुक्त गुरु में बद्ध शिष्यों के द्वारा सर्वदा प्रातिभासिक अविद्यास्तमय की कल्पना तो की जा सकती है। यहां पर प्रातिभासिक अविद्यास्तमय इसलिए कहा गया है कि जीवन्मुक्त पुरुष में स्थूल अविद्या की निवृत्ति होने पर भी सूक्ष्म अविद्या की निवृत्ति नहीं होती है किन्तु बद्ध शिष्य गण उभय प्रकार की अविद्या निवृत्ति मान रहे हैं। इसलिए प्रातिभासिक अविद्यास्तमय कहा गया। व्यभिचार इस प्रकार से होगा—जीवन्मुक्त गुरु में अविद्यास्तमय की कल्पना बद्ध शिष्यों के द्वारा तो किया जा सकता है, परन्तु शरीर भिक्षाटन आदि दृश्यों को देखकर दृश्यास्तमय

१. दृश्याश्रयेत्यादि—तथा च तत्त्वज्ञानेनाविद्यातत्कार्ययोर्बाधापरनामाऽत्यन्ताभाव एव पर्यवस्यतीति गम्यते।

२. कपालनाशादेर्घटादिनाशहेतुत्वमिव।

लघुचन्द्रिका

ध्येयम्। अथवा माऽस्तु प्रातीतिकं तादृशाविद्यास्तमयादिकम्, अविद्योच्छेदोपलक्षितः पूर्णानन्दरूप आत्मा मोक्षः। अविद्योच्छेदश्च तदीयस्थूलसूक्ष्मरूपाश्रयकालपूर्वत्वाभावः सर्वदृश्याश्रयकाल—

सत्यानन्दप्रबोधिका

की कल्पना तो शिष्यों के द्वारा नहीं की जा सकती है। अतः जीवन्मुक्त गुरु में प्रातीतिक अविद्यास्तमय तो है किन्तु प्रातीतिक दृश्यास्तमय न रहने के कारण व्याप्ति में व्यभिचार आ गया। प्रश्न होता है कि बद्ध शिष्यों के द्वारा जीवन्मुक्त गुरु में प्रातिभासिक दृश्यास्तमय की कल्पना क्यों नहीं होती है? इसका समाधान यह है कि जीवन्मुक्त गुरु के भिक्षाटन—उपदेश—अध्यापनादि व्यवहार को देखकर प्रातिभासिक दृश्यास्तमय की कल्पना बद्ध शिष्यवर्ग नहीं कर सकते हैं। इस पर यदि प्रश्न किया जाय कि जब जीवन्मुक्त गुरु समाधि में हो तब तो प्रातिभासिक दृश्यास्तमय की कल्पना हो ही सकती है? इस प्रश्न को ध्यान में रखकर लघुचन्द्रिकाकार ने कहा—“नियमाभावात्।” अर्थात् प्रातिभासिक अविद्यास्तमय की कल्पना बद्ध शिष्यों के द्वारा सर्वदा हो सकती है, किन्तु प्रातिभासिक दृश्यास्तमय की कल्पना समाधिस्थ गुरु में होने पर भी अन्य अवस्थाओं में प्रातिभासिक दृश्यास्तमय की कल्पना नहीं हो सकती है, क्योंकि देहादि दृश्यों का अस्तमय नहीं हुआ है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा बद्ध शिष्य समझ रहे हैं। अतः जिस समय प्रातिभासिक दृश्यास्तमय की कल्पना नहीं होगी। उस अवस्था में अवश्य ही व्यभिचार दोष होगा। इस प्रकार व्याप्यतावच्छेदक अविद्यास्तमयत्व को स्वीकार करके पूर्वोक्त प्रकार से व्याप्ति बनाने पर व्यभिचार दोष के आने पर भी दृश्यास्तमयकालीनत्व को व्याप्यतावच्छेदक के रूप से स्वीकार करने पर व्याप्तिगत व्यभिचार दोष का वारण हो जायेगा। अतः दृश्यास्तमयकालीनत्वरूप से अविद्यास्तमय को दृश्यास्तमय के प्रति ज्ञापक हेतु माना ही जा सकता है। यहां पर व्याप्ति का आकार होगा—“यत्र यत्र दृश्यास्तमयकालीनत्वावच्छिन्नाविद्यास्तमयः तत्र तत्र दृश्यास्तमयः।” इस व्याप्ति में व्यभिचार दोष नहीं होगा, क्योंकि दृश्यास्तमयकालीन—त्वावच्छिन्न अविद्यास्तमय विदेहताकाल में ही होता है और उस समय अनादि—सादि उभयविध दृश्य का अस्त भी होता है। किन्तु उक्त व्याप्ति के व्याप्य दल में व्यापक (साध्य) का प्रवेश हो रहा है, क्योंकि साध्य है—दृश्यास्तमयत्व। वह व्याप्यतावच्छेदकरूप से हेतु में प्रविष्ट हो गया है। पक्षधर्मता के ज्ञान के लिए पक्ष में हेतु का ज्ञान आवश्यक है। जब पक्ष पर हेतु का ज्ञान होगा तब व्याप्यतावच्छेदक (हेतुतावच्छेदक) के रूप से साध्य का भी ज्ञान हो जायेगा। पक्ष में अनुमान से पहले ही साध्य का निश्चय अनुमिति का प्रतिबन्धक बन जाता है। इसलिए पूर्व व्याख्या में अरुचि होने से “अथवा” आदि से पुनः अन्य प्रकार से व्याख्या लघुचन्द्रिकाकार कर रहे हैं अथवा जीवन्मुक्त गुरु में संस्कारादि कार्यरूप से अविद्या के विद्यमान होने के कारण उनमें बद्ध शिष्यों के द्वारा प्रातीतिक अविद्यास्तमयादि की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु अविद्या के उच्छेद से उपलक्षित पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा ही मोक्ष पदार्थ है। (इसी प्रकार दृश्योच्छेद से उपलक्षित पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा ही मोक्ष पदार्थ है।) अविद्योच्छेद का अर्थ है—स्थूल—सूक्ष्मात्मक अविद्या के आश्रयीभूत काल का पूर्वत्वाभाव। इसी प्रकार दृश्योच्छेद का अर्थ होगा—सर्वदृश्यों के आश्रयीभूत काल का पूर्वत्वाभाव। अतः जैसे वह्नि का धूम व्याप्य और ज्ञापक हेतु होता है, ठीक उसी प्रकार यहां पर भी दृश्योच्छेद के प्रति अविद्योच्छेद व्याप्य और ज्ञापक हेतु

लघुचन्द्रिका

पूर्वत्वाभावरूपेण दृश्योच्छेदेन व्याप्यः; मोक्षस्य दृश्योच्छेदोपलक्षितात्मरूपकैवल्यरूपत्वात्॥६॥

यद्वा ननु दृश्योच्छेदस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिक्षणे न सम्भवति; अनादिदृश्यानां ज्ञानानुच्छेद्यत्वात्, अविद्यातत्कार्ययोरेव तदुच्छेद्यत्वात्, तत्राह—मिथ्याबन्धेति। मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झित

सत्यानन्दप्रबोधिका

बन जायेगा और यहां पर भी यह व्याप्ति बन जायेगी—“ यत्र यत्र अविद्योच्छेदः तत्र तत्र दृश्योच्छेदः।” इस व्याप्ति का समन्वय मोक्षकालीन आत्मा में हो जायेगा, क्योंकि जैसे अविद्योच्छेद से उपलक्षित पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा ही मोक्ष पदार्थ है ठीक वैसे ही दृश्योच्छेद से उपलक्षित पूर्णानन्दस्वरूप कैवल्यात्मक आत्मा ही मोक्ष पदार्थ है॥६॥

“मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झितः” इस ग्रन्थ का प्रकारान्तर से अवतरण देकर पुनः व्याख्या लघुचन्द्रिकाकार कर रहे हैं। नन्विति। यहां पर “यद्वा ननु” ऐसा पाठान्तर भी है। पूर्वोक्त व्याख्या में क्या अरुचि है? इसको पण्डितप्रवर्गश्रीविद्वलेश उपाध्यायजी ने इस प्रकार से निरूपण किया है—अत्र च मोक्षप्राप्तौ तत्त्वज्ञानविषयत्वरूपोद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्वं न भासते, बाधात् किन्तु तत्सामानाधिकरण्यं तत्प्रयोज्यत्वं वेत्येतावन्नात्र बोधनाय मिथ्याबन्धेति ग्रन्थावतारे विकल्पोज्झितपदवैयर्थ्यं विधूननपदोत्तरतृतीयायां वैशिष्ट्यार्थकतया आत्मनि मिथ्याबन्धराहित्यमात्रे बोधितेऽपि बन्धमिथ्यात्वबोधनसम्भवेन उक्तरीत्या उक्तार्थबोधन सम्भवात् मृषाद्वैतेत्यनेनैवैतल्लाभात् दृश्यशून्यत्वे तज्ज्ञाप्यत्वादिबोधने फलाभावात् मिथ्याबन्धेत्यादेरपि वैयर्थ्याच्चेत्यालोच्य प्रकारान्तरेण तं ग्रन्थमवतारयति—नन्विति। (प्रश्न होता है कि तत्त्वज्ञानविषयत्वरूपोद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व मोक्षप्राप्तिरूप विधेय में भाषता नहीं क्योंकि वैसा मानने पर बाधदोष आता है, इसकी चर्चा पीछे की गई है—इतना तो समझ में आता है, परन्तु अविद्यास्तमय जिस अधिकरण में होता है, उसी अधिकरण में विकल्पोज्झित (दृश्यास्तमय) रहता है—इस बात को सूचित करने के लिए अथवा दृश्यास्तमय अविद्यास्तमय से प्रयोज्य है—इस बात को सूचित करने के लिए जो “मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झितः” इस प्रकार पदद्वय दिया गया है, वहां “विकल्पोज्झितः” पद देने की तो कोई सार्थकता दिख नहीं रही है, क्योंकि “विकल्पोज्झितः” पद न देने पर भी मिथ्याबन्ध विधूनन के उत्तर में जो तृतीया विभक्ति आयी है, उस तृतीया का अर्थ तो वैशिष्ट्य विवक्षित है। अतः आत्मा मिथ्याबन्धरहित है—इस अर्थ का बोधन हो जाता है और उस बोधन से ही बन्ध (अविद्या) मिथ्या है—इस अर्थ का बोधन सम्भव है, क्योंकि बन्ध के मिथ्यात्व बोधित हो जाने पर बन्ध में ज्ञाननिवर्त्यत्व है—यह सूचित हो जाता है, क्योंकि ज्ञाननिवर्त्यत्व ही मिथ्यात्व का लक्षण है और दृश्य को अविद्या से प्रयोज्य मानने के कारण अविद्या का अस्तमय हो जाने पर

१. वैयर्थ्यं हेतुमाह—विधूनन पदोत्तरतृतीयाया इति। २. उक्तरीत्या उक्तार्थबोधनसम्भवादिति—बन्धनस्य मिथ्यात्वे बोधिते ज्ञाननिवर्त्यत्वं लभ्यते, ज्ञाननिवर्त्यस्य अविद्यात्मकबन्धस्याभावे चोक्ते प्रयोज्यस्य प्रयोजक निवर्तकनिवर्त्यत्वनियमेनाविद्याप्रयोज्यदृश्यात्मकविकल्पाभावरूपस्यार्थस्य बोधनसम्भवादित्यर्थः। ३. मिथ्याबन्धेत्यादेर्वैयर्थ्यं हेतुमाह—मृषाद्वैतेत्यनेनैवैतल्लाभादिति। ४. दृश्यशून्य इति—कार्यमिथ्यात्वोक्त्या एव कारणमिथ्यात्वलाभात् मिथ्याबन्धेत्यादिना बन्धस्य मिथ्यात्वोक्तिर्वृथैव इत्यर्थः। ननु बन्धराहित्यस्य दृश्याराहित्यज्ञापकत्वलाभात् तदुक्तिः सफलेति चेन्नेत्याह—दृश्यशून्यत्वेति।

लघुचन्द्रिका

इति योजना। तथा चाविद्योच्छेदेन दृश्योच्छेदवानित्यर्थलाभादविद्योच्छेदस्य दृश्योच्छेदव्याप्यता—
लाभेनाविद्यारूपबन्धस्य मिथ्यात्वोक्त्याऽविद्याप्रयुक्तदृश्यमात्रस्य मिथ्यात्वलाभेनानादिदृश्यानामपि
ज्ञानोच्छेदलाभादुक्तव्याप्यतायाः सम्भवः। तथाच सर्वदृश्योच्छेदोपलक्षितपरमानन्दरूपात्म-

सत्यानन्दप्रबोधिका

आत्मा दृश्यशून्य है—यह अर्थ ‘मिथ्याबन्धविधूननेन’ पद के द्वारा ही सूचित हो जाता है। अतः ‘विकल्पोज्झितः’ पद देना व्यर्थ है। आगे ‘मिथ्याबन्धविधूननेन’ यह भी पद व्यर्थ है इसमें युक्ति का प्रदर्शन पूर्वपक्षी कर रहा है। ‘मिथ्याबन्धविधूननेन’ इस पद को न देने पर भी अद्वैतसिद्धिकार के द्वारा लिखा गया मङ्गलाचरण के प्रथम पद्य में मृषाद्वैत—इस प्रकार कथन से ही द्वैत मिथ्या है—यह सूचित हो गया। अर्थात् दृश्यशून्य इस पद के द्वारा ही यह सूचित होता है कि दृश्य मिथ्या है और कार्य मिथ्या होने पर कारण भी मिथ्या होता है। इस नियम के कारण अविद्या का कार्य दृश्य जो मिथ्या है तब दृश्य का कारण जो अविद्या वह भी मिथ्या है—यह अर्थ स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। अतः बन्धरूप अविद्या मिथ्या है, इस अर्थ को सूचित करने के लिए अलग से ‘मिथ्याबन्धविधूननेन’ पद देना व्यर्थ है। यदि ‘मिथ्याबन्धविधूननेन’ और ‘विकल्पोज्झितः’ इन पदद्वय के कथन के द्वारा मिथ्याबन्ध का राहित्य दृश्यराहित्य का ज्ञापक है। इसलिए उक्त दोनों पदों का देना सार्थक है, इसके समाधान में कहा गया कि पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञापक मानने पर भी उसका कोई फल नहीं है। इसलिए उक्त दोनों पद व्यर्थ ही हैं। इन सभी अरुचियों के कारण लघुचन्द्रिकाकार प्रकारान्तर से मूल की व्याख्या कर रहे हैं।) पूर्वपक्षी का कथन है कि ‘यदा तत्त्वज्ञानं तदा दृश्योच्छेदः’ इस प्रकार की कालिक व्याप्ति यदि सिद्धान्ती को अभीष्ट है तो उसे माना नहीं जा सकता, क्योंकि अनादि—सादि उभयविधदृश्यसामान्य का उच्छेद तत्त्वज्ञान उत्पत्ति क्षण में हो नहीं सकता है, क्योंकि तत्त्वज्ञान से अविद्या और अविद्या के कार्य का ही उच्छेद होता है। जो अनादि दृश्य पदार्थ है वे अनादि होने के कारण अविद्या के कार्य हो नहीं सकते और वे अनादि दृश्य पदार्थ अविद्या से पृथक् है, क्योंकि उन अनादि पदार्थों की गणना स्वयं ही सिद्धान्ती अविद्या से पृथक् करते हैं। जैसे—

जीव ईशो विशुद्धाचित् तथा जीवेशयोर्भिदा।

अविद्या तच्चित्तोर्योगः षडस्माकमनादयः॥

इस शङ्का का समाधान करते हुए अद्वैतसिद्धिकार ने कहा—मिथ्याबन्धेत्यादि। ‘मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झितः’ ऐसी योजना पूर्ववत् है और ‘विधूननेन’ में ज्ञापकहेतु में तृतीया विभक्ति है। इसलिए यहां पर व्याप्ति का आकार होगा—‘यदा अविद्योच्छेदः तदा दृश्योच्छेदः।’ (‘यदा तत्त्वज्ञानं तदा दृश्योच्छेदः’ ऐसी व्याप्ति हम मानते ही नहीं, इस बात को स्वयं सिद्धान्ती आगे ‘तत्त्वज्ञानोत्तरमेव न तत्क्षणे’ इन शब्दों के द्वारा स्पष्ट करेंगे)। इस प्रकार से यह अर्थ उपलब्ध होगा—अविद्योच्छेद के द्वारा दृश्योच्छेदवान् विष्णु है। इस प्रकार के अर्थ लाभ से अविद्योच्छेद में दृश्योच्छेद की व्याप्यता का लाभ भी हो जाता है। अर्थात् अविद्योच्छेद और दृश्योच्छेद एक ही काल में होते हैं। अतः तत्त्वज्ञान से जब अविद्योच्छेद होता है, तब उसी अविद्योच्छेद से दृश्योच्छेद हो जायेगा। अविद्या से अतिरिक्त अनादि दृश्य पदार्थों को ले कर जो आपत्ति दी गयी थी उसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ‘विधूननेन’ में तृतीया कारक हेतु में आयी नहीं है किन्तु ज्ञापक हेतु में है। अतः अविद्या से

लघुचन्द्रिका

रूपकैवल्यप्राप्तिस्तत्त्वज्ञानोत्तरमेव, न 'तत्क्षणे, इति नोद्देश्यतावच्छेदकधीविषयत्वकालीनत्वं विधेये मोक्षलाभे विवक्षितम्। 'उज्झितः' इति निष्ठाप्रत्ययेनोच्छेदस्यातीतकाले मोक्षप्राप्तेर्लाभा-
दत्यन्ताभावत्वविशिष्टरूपस्योच्छेदस्यापि दृश्यत्वात्तादृशो मोक्षकाले तस्यातीतत्वादिति भावः।

सत्स्थानन्दप्रबोधिका

प्रयुक्त दृश्य ऐसा अर्थ किया जायेगा, न कि अविद्या से जन्य दृश्य। अतः अविद्या से जन्य अर्थ को लेकर अनादि दृश्यों के विषय में जो पूर्वोक्त दोष पूर्वपक्षी ने दिया था, उसका खण्डन हो गया, और अविद्या से प्रयुक्त अनादि दृश्य पदार्थ भी होने के कारण पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि अविद्या से अतिरिक्त अनादि दृश्य पदार्थ है। अतः अविद्योच्छेद से अनादि दृश्य पदार्थों का उच्छेद नहीं होता—ऐसा कह कर जो दोष दिया था उसका भी खण्डन हो गया क्योंकि अविद्यारूपबन्ध जब मिथ्या है तब अविद्या प्रयुक्त जितने भी पदार्थ है सभी मिथ्या अपने आप ही हो जायेंगे। अर्थात् जैसे सादि दृश्य अविद्या से प्रयुक्त है, ठीक वैसे ही अविद्या का कार्य न होने पर भी अनादि दृश्य भी अविद्या से प्रयुक्त है। अतः वे सभी दृश्य पदार्थ अविद्या के मिथ्या होने पर मिथ्या सिद्ध हो जायेंगे। अविद्या प्रयुक्त पदार्थ का तात्पर्य यह है कि अविद्या के रहने पर जो रहे और अविद्या के न रहने पर जो नहीं रहे। अर्थात् अविद्या से रक्षित रहने वाले। अतः अविद्या के न रहने से रक्षक के अभाव में जो भी अविद्या से प्रयुक्त है वे नहीं रह सकते हैं। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि अनादि दृश्य अविद्या का कार्य न होने पर भी अविद्या से प्रयुक्त तो है ही। अतः अविद्योच्छेद से सर्वदृश्यों का उच्छेद सम्भव है। इसलिए "यदा अविद्योच्छेदः तदा दृश्योच्छेदः" यह सद् व्याप्ति है। पीछे पूर्वपक्षी ने कहा था कि "यदा तत्त्वज्ञानं तदा दृश्योच्छेदः।" इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ऐसी व्याप्ति हम नहीं मानते हैं, अपितु सर्वदृश्योच्छेद से उपलक्षित पूर्णानन्दरूप आत्मा से अभिन्न कैवल्यरूप मोक्ष की प्राप्ति चरमतत्त्वज्ञान के उत्तर क्षण में होती है न कि तत्त्वज्ञान क्षण में। अतः यहां अखण्डधीविषयत्वरूप उद्देश्यतावच्छेदक के काल से अवच्छिन्न विधेय (मोक्ष) का लाभ विवक्षित नहीं है। इसमें जो बाधक है उसे पीछे कहा जा चुका है। यहां भी इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि इसी को स्पष्ट करने के लिए "उज्झितः" पद का प्रयोग किया गया है। "उज्झितः" पद में निष्ठा क्त प्रत्यय "निष्ठा" (पा.सू.३.२.१०२) इस सूत्र के द्वारा भूतार्थवृत्ति धातु से विहित है। अतः अविद्योच्छेद की अतीतता के काल में ही मोक्ष प्राप्ति निश्चित होती है, क्योंकि चरमतत्त्वज्ञानकाल में अविद्योच्छेद में वर्तमानता थी। उस काल के बाद अविद्योच्छेद नामक कोई भी दृश्य नहीं रहता है। अत्यन्ताभावत्वविशिष्टरूप उच्छेद अर्थात् अत्यन्ताभावरूप उच्छेद भी दृश्य है। अतः चरम अखण्डाकारचित्तवृत्ति के अनन्तर होने वाले मोक्ष काल में अत्यन्ताभावरूप उच्छेद का अतीतत्व सिद्ध होता है। इस पर कोई यदि कहता है कि अत्यन्ताभावरूप उच्छेद जो है, वह नित्य होगा, क्योंकि अत्यन्ताभाव को नित्य माना जाता है। अतः वह मोक्ष काल में भी रहेगा, इसलिए उसको मोक्ष काल में अतीतकालीन कहना असङ्गत है। इसके समाधान में कहा गया कि सिद्धान्त मत में ब्रह्म को छोड़कर कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। ब्रह्म से पृथक् सभी पदार्थ दृश्य हैं।

लघुचन्द्रिका

मोक्षं कीदृशम्? तत्राह—परमेत्यादि। निरतिशयापरिच्छिन्नसुखमात्रस्वरूपमित्यर्थः॥७॥

ननु मुक्तस्य प्रकाशकाभावेन प्रकाशत इत्यर्थकं विजयत इत्युक्तम्, तत्राह—स्वयमिति। प्रकाशकसम्बन्धं विनैवेत्यर्थः। नन्वेवं विजयत इत्यनुपपन्नम्; तस्यापि प्रकाशसम्बन्धार्थकत्वात्, स्वयमित्यस्य प्रकाशान्तरं विनेत्यर्थकत्वेन विजयत इत्यस्य स्वात्मप्रकाशसम्बन्धार्थकत्वेऽपि विष्णोर्दृश्यत्वेन मिथ्यात्वापत्तिः। अथ विजयते इत्यस्योत्कर्षान्तरमेवार्थः, ननु प्रकाशसम्बन्धः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतः जब मोक्षकाल में कोई भी दृश्य पदार्थ नहीं रहता है। अर्थात् मोक्षकाल के समय सभी दृश्य पदार्थ अतीतकालीन हो जाते हैं, इसलिए अत्यन्ताभावरूप उच्छेद जो कि दृश्य है, वह भी मोक्ष के समय अतीतकालीन ही रहेगा। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए अद्वैतसिद्धिकार ने “उज्झितः” पद का प्रयोग किया है। जिस मोक्ष की प्राप्ति असीम परिश्रम के अनन्तर चरम तत्त्वज्ञान के पश्चात् अविद्योच्छेद और तत्प्रयुक्त सर्वदृश्योच्छेद के पश्चात् होती है, उस मोक्ष का स्वरूप कैसा है? इसके समाधान में कहा—परमानन्दैकतानात्मकम्। अर्थात् वह मोक्ष निरतिशय और अपरिच्छिन्न सुखमात्र स्वरूप है। यहां परम पद का अर्थ किया गया है—निरतिशय—अपरिच्छिन्न। एकतान् शब्द का अर्थ है—मात्र। निरतिशय का अर्थ होता है—तारतम्य रहित। जिसका निरूपण स्वयं अद्वैतसिद्धिकार ने अद्वैतसिद्धि के चतुर्थ परिच्छेद के “मुक्तौ तारतम्यविचारः” प्रकरण में किया है। जैसे—“नापि मुक्तावुच्चनीचभावः, तस्य द्वितीय सापेक्षत्वेन तदासम्भवात्, “परमं साम्यमुपैति” (मु.३.१.३) इति साम्यश्रुतेश्च।” अपरिच्छिन्नत्व का अर्थ है—कालादिपरिच्छेद के अभाव वाला॥७॥

स्वयम् पद की सार्थकता को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि यदि “प्रकाशते” अर्थ वाला केवल “विजयते” पद का प्रयोग किया जाता है तब तो “घटः प्रकाशते” इत्यादि स्थलों पर जैसे अन्य प्रकाशक के द्वारा घट प्रकाशित होता है—ऐसा अर्थ होता है, वैसे ही प्रकृत में स्वीकार करना पड़ता, किन्तु वह सम्भव नहीं है, क्योंकि मुक्तावस्था में सूर्यादि समस्त दृश्य का उच्छेद हो जाने के कारण आत्मा को प्रकाशित करने वाला कोई प्रकाशक नहीं है। अतः प्रकाश सम्बन्धी अर्थ को कहने वाला “विजयते” पद का प्रयोग अयुक्त है। इस शङ्का के निवारणार्थ कहा गया—स्वयम्। जिसका अर्थ है—अन्य प्रकाशक के सम्बन्ध के बिना ही विजयते—प्रकाशमान। इस पर पुनः पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि पूर्वोक्त प्रकार से “स्वयं विजयते” यह प्रयोग भी उपपन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि “विजयते” पद का अर्थ है—प्रकाशसम्बन्धार्थक (प्रकाश का आश्रय) और “स्वयम्” इस पद का अर्थ है—प्रकाशान्तर के बिना (अन्य प्रकाशक निरपेक्ष)। अतः “स्वयं विजयते” का अर्थ होगा—स्वात्मकप्रकाश सम्बन्धी अर्थात् अन्य प्रकाशक निरपेक्ष प्रकाश का आश्रय। किन्तु पूर्वोक्त प्रकार से अर्थ करने पर विष्णु में दृश्यत्व की आपत्ति होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे चैतन्यात्मक प्रकाश के विषयतारूप सम्बन्ध घटादियों में रहता है। इसी प्रकार से घटादियों को दृश्य और मिथ्या माना जाता है। ठीक उसी प्रकार चैतन्यात्मक प्रकाश का सम्बन्ध जब विष्णु में है, तब विष्णु को भी दृश्य और मिथ्या मानने पर आपत्ति होगी। यदि “विजयते” पद का अर्थ प्रकाशसम्बन्धार्थक न कर के उत्कर्षान्तर अर्थ किया जाय अर्थात् नित्यत्व अथवा

लघुचन्द्रिका

तदा प्रकाशमानानन्दरूपत्वालाभेन मोक्षस्य प्रयोजनत्वालाभः, तत्राह—सत्य—ज्ञान—सुखात्मक इति। यथाऽऽत्मन आनन्दत्वेनानन्दरूपं मोक्षं प्राप्त इवेत्युक्तम्, अत एवानन्दावाप्तिबोध—कश्चुतेरनावृतानन्दैक्यमर्थो न त्वानन्दसम्बन्धः, तथा प्रकाशरूपत्वेन विष्णोः प्रकाशत इत्यस्यानावृतचिदभेदबोधकत्वम्, नतु प्रकाशसम्बन्धार्थकत्वम्; तथाच दृश्यत्वाभावाद् न मिथ्यात्वापत्तिः। नच प्रकाशरूपतोक्तिर्व्यर्थेति वाच्यम्; अपरोक्षत्वव्यवहारयोग्यसुखस्यैव पुरुषार्थत्वम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

परप्रकाशयत्वाभावरूप अर्थ किया जाय तब तो मोक्षकालीन आत्मस्वरूप जो आनन्द वह प्रकाशित नहीं होता है— ऐसा अर्थ हो जायेगा। ऐसा होने से “आत्मा आनन्दस्वरूप और प्रकाशमान है।” ऐसे अर्थ का लाभ नहीं हो पायेगा। तब अप्रकाशित आनन्द होने के कारण मोक्ष प्राप्ति के लिए पुरुषार्थता (पुरुषाभिलाषा) का भी लाभ नहीं होगा, क्योंकि प्रकाशमान वस्तु के विषय में ही अभिलाषा हुआ करती है। इस शङ्का का समाधान करते हुए अद्वैतसिद्धिकार ने कहा— सत्यज्ञानसुखात्मक इति। जैसे आत्मा आनन्दस्वरूप है और मोक्ष भी आनन्दस्वरूप है, आनन्दस्वरूपत्वेन दोनों में ही भेद नहीं है, फिर भी कहा गया कि “आत्मा मोक्षं प्राप्त इव” अर्थात् इव शब्द से आध्यासिक सम्बन्ध कहा गया। वस्तुतः आत्मा और मोक्ष में ऐक्य होने के कारण प्राप्यप्रापकभावसम्बन्ध ही नहीं हो सकता है। इसी कारण से “आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्” इत्यादि आनन्द प्राप्ति बोधक श्रुतियों का भी अर्थ किया जाता है—अनावृत आनन्द के साथ ऐक्य, न कि आनन्द सम्बन्ध अर्थात् अपरोक्षात्मकानन्द के साथ एकता को प्राप्त किया, न कि द्वैत भाव से आनन्द को प्राप्त किया। इसी प्रकार विष्णु भी प्रकाशस्वरूप (चिद्रूप) है। इसलिये “प्रकाशते” इस पद से विव्रियमाण “विजयते” पद अनावृतचिदभेद का बोधक है। अर्थात् अपरोक्षज्ञान से अभिन्नत्वरूप अर्थ का बोधक है, न कि प्रकाशसम्बन्धार्थकत्व का। अतः पूर्वोक्त प्रकार से जो पूर्वपक्षी विष्णु में प्रकाश सम्बन्धित्वरूप दृश्यत्व के माध्यम से मिथ्यात्व की आपत्ति दे रहा था, उसका खण्डन हो गया, क्योंकि हमने “विजयते” पद का अर्थ प्रकाश सम्बन्धित्व किया ही नहीं। अतः विष्णु में दृश्यत्वाभाव होने से मिथ्यात्व की आपत्ति नहीं होगी। अर्थात् विष्णु ज्ञानप्रकाशय नहीं है, अपितु ज्ञानात्मक है। इस पर पुनः पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि “सत्यज्ञानसुखात्मकः” इसमें ज्ञान पद से प्रकाशस्वरूपता का कथन व्यर्थ है। अर्थात् मोक्ष आनन्दस्वरूप है इतना ही कहने से मोक्ष की पुरुषार्थता सिद्ध हो जायेगी। इसलिये मोक्षज्ञानस्वरूप है— यह कहना व्यर्थ है। इसका समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अपरोक्षव्यवहार योग्य सुख में ही पुरुषार्थता होती है। उस सुख में पुरुषार्थता नहीं हो सकती जो अपरोक्ष व्यवहार के योग्य न हो। अपरोक्षात्मक न कह कर अपरोक्ष व्यवहार योग्य इसलिए कहा गया है कि विषय सुख में भी पुरुषार्थता है। मोक्षसुख और विषयसुख दोनों अपरोक्ष व्यवहार योग्य होने पर भी भिन्न—भिन्न प्रकार से है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि सुख में अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता अनावृतचिद्रूपत्व अथवा अनावृतचित्तादात्म्य होने के कारण ही सम्भव होती है। मोक्षकालीन आनन्द में प्रथम प्रकार से अपरोक्ष व्यवहार योग्यता है, क्योंकि उस समय का चित् अविद्या से आवृत नहीं रहता है और अनावृत चैतन्य का स्वरूप ही मोक्षानन्द है, किन्तु विषयसुख अनावृतचिद्रूप

लघुचन्द्रिका

उक्तयोग्यत्वज्ञानावृत चिद्रूपत्वेन, तादृशचित्तादात्म्येन वा; तत्रोक्तरूपानन्दस्यान्त्या-
भावेऽप्याद्यमस्तीति ज्ञापनार्थत्वेन तस्याः सार्थक्यात्॥८॥

ननु ज्ञानस्याज्ञानतत्कार्यविरोधितायाः शुक्त्यादिज्ञानस्थले छष्टतया युक्तत्वेऽप्यनादि-
साधारणदृश्यमात्रविरोधित्वमछष्टत्वान्न युक्तम्, तत्राह—मायेत्यादि। मायया कल्पितम्=प्रयुक्तम्।
अत एव मृषाभूतं यन्मातृतामुखं प्रमातृत्वादिरूपं द्वैतम्=आत्मभिन्नम्, तदभिन्नप्रपञ्चाश्रय इत्यर्थः॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं है तथा परिच्छिन्न और चिद् में अध्यस्त है। बद्धकाल में जब सुखरूपवृत्ति नहीं रहती है तब सुखस्वरूप चैतन्य आवृत रहता है किन्तु जब विषय सम्पर्क से सुखरूपवृत्ति बनेगी तब सुखस्वरूप चैतन्य जिस अंश में अनावृत हो जायेगा तब उस अनावृतचित् के साथ विषयजन्य सुखरूपवृत्ति का तादात्म्य सम्बन्ध हो जाने से उस विषयसुख में अपरोक्ष व्यवहार योग्यता आ जायेगी। इस प्रकार से फलित अर्थ यह हुआ कि मोक्ष का स्वरूपभूत निरतिशय अपरिच्छिन्न आनन्द में द्वितीय कोटि (अनावृतचित् तादात्म्य) के न रहने पर भी प्रथम कोटि (अनावृतचिद्रूपत्व) है। इस आशय को प्रकट करने के लिए ही “सत्यज्ञानसुखात्मकः” इस स्थल पर सुख के साथ ज्ञान पद का प्रयोग किया गया है। अतः आनन्दरूपता के साथ प्रकाशरूपता का कथन सार्थक है॥८॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि मिथ्यात्वानुमान के दृष्टान्त स्थल पर देखा गया है कि शुक्ति का अज्ञान और उस अज्ञान का कार्य जो रजत उन दोनों का ही विरोधी शुक्ति का ज्ञान होता है न कि अन्य का। अतः प्रकृत में भी तत्त्वज्ञान अविद्या और उसके कार्य प्रपञ्च (जन्य प्रपञ्च) का विरोधी होगा और जो अविद्या और अविद्या के कार्य से पृथक् अनादिभाव पदार्थ हैं, उनका विरोधी नहीं होगा। अतः सिद्धान्ती का यह कथन असङ्गत है कि तत्त्वज्ञान से अनादि—सादि उभयविषदृश्य का उच्छेद हो जाता है। ऐसी शङ्का को दूर करने के लिए अद्वैतसिद्धिकार ने कहा—मायेत्यादि। माया कल्पितम्=माया के द्वारा प्रयुक्त। अतएव माया के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण, मृषाभूतं यन्मातृतामुखं प्रमातृत्वादिरूपम्= मिथ्याभूत जो प्रमातृत्वादि रूप, द्वैतम्=आत्मभिन्न, तदभिन्नप्रपञ्चाश्रयः= आत्मभिन्न से अभिन्न जो प्रपञ्च उसका आश्रय (ब्रह्म)। यहां पर प्रश्न होता है कि जब द्वैत कह दिया गया तब द्वैतार्थक प्रपञ्च पद को क्यों कहा गया? इससे तो पुनरुक्ति दोष आ रहा है। इस दोष के वारण के लिए द्वैत का अर्थ आत्मभिन्न किया गया। ऐसा अर्थ करने से पुनरुक्ति दोष का वारण हो गया और द्वैतप्रपञ्च का अर्थ होगा—आत्मभिन्न प्रपञ्च। अथवा यदि कोश के अनुसार प्रपञ्च का अर्थ समूह कर दिया जाय तब अर्थ होगा—द्वैत समूह। ऐसा अर्थ करने से भी पुनरुक्ति दोष का वारण हो जायेगा। आत्मभिन्नप्रमातृत्वादिनिखिलप्रपञ्च माया के द्वारा प्रयुक्त है—ऐसा अर्थ करने पर पूर्वपक्षी की शङ्का का समाधान कैसे हुआ, इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैसे शुक्त्यज्ञान उसके साथ चित् का जो सम्बन्ध वह अनादि है, किन्तु शुक्तिज्ञान से शुक्त्यज्ञान का नाश हो जाने पर शुक्त्यज्ञान के अभाव में शुक्त्यज्ञान के साथ जो चित् का अनादि सम्बन्ध था वह भी निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार से दृष्टान्त स्थल पर देखा गया कि शुक्ति का ज्ञान शुक्त्यज्ञान और उसके कार्य का विरोधी होने के साथ—साथ शुक्त्यज्ञान से प्रयुक्त चित्रिष्ठ अनादि शुक्त्यज्ञान के सम्बन्ध का भी विरोधी है। इसी प्रकार प्रकृत में भी समझना

लघुचन्द्रिका

तथाच शुक्त्याद्यज्ञानस्येव चिन्निष्ठतत्सम्बन्धादेरपि तत्प्रयुक्तत्वेन शुक्त्यादिज्ञानस्य तद्विरोधिताया छष्टतया ब्रह्मज्ञानस्यापि ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तदृश्यमात्रविरोधित्वं युक्तमिति भावः। मृषाद्वैताश्रयत्वोक्त्या मुमुक्षावानधिकारी सूचितः। ननु अखण्डब्रह्माकारज्ञानस्य दृश्योच्छेदकत्व आपातज्ञानरूपस्यापि तस्य तत्स्यात्, तत्राह—श्रुतिशिखोत्थेति। श्रुतीनां कर्मोपासनाकाण्डरूपाणामुपकार्यत्वेन शिखेव मुख्यं यन्महावाक्यम्, तज्जनितेत्यर्थः। तथाच निष्कामकर्मोपासनानुष्ठानद्वारकचित्तशुद्धिचित्तैकाग्रता—

सत्यानन्दप्रबोधिका

चाहिए। अर्थात् मूलस्थ “तत्सम्बन्धादेः” का अर्थ है— माया सम्बन्धादि। यहां आदि पद से शेष तीन अनादि (जीव, जीवब्रह्म का भेद और ईश्वर) लेना है। चिन्निष्ठ मायासम्बन्धादि अनादि सभी दृश्यों के माया प्रयुक्त होने के कारण ब्रह्मज्ञान में भी ब्रह्मज्ञान (माया) से प्रयुक्त अनादि दृश्यों में भी विरोधित्व उचित ही है। अज्ञान और अज्ञान के कार्य का विरोधी पूर्वपक्षी पहले से ही मान रहा है। अतः ब्रह्मज्ञान के द्वारा सर्वविधदृश्यों का उच्छेद कहना उचित ही है। “युक्तमिति भावः” इसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि यहां पर सिद्धान्ती को यह व्याप्ति अभिमत है—“यद् दृश्यं यदज्ञानप्रयुक्तं तद् दृश्यं तदज्ञाननिवर्तकज्ञाननिवर्त्यम्।” जैसे रज्जुसर्प रज्जु के अज्ञान से प्रयुक्त होने के कारण ही वह रज्जुसर्प, रज्जु के अज्ञान का निवर्तक रज्जु के ज्ञान से निवर्त्य है। विष्णु को मिथ्याद्वैत का आश्रय कह दिये जाने से यह सूचित होता है कि मुमुक्षु ही इस ग्रन्थ के श्रवण में अधिकारी है। अर्थात् मिथ्या द्वैताश्रयत्व और मुमुक्षा इन दोनों में प्रयोजक प्रयोज्यभाव सम्बन्ध है, क्योंकि जब किसी पुरुष को यह ज्ञान होगा कि मैं प्रमातृत्वादि मिथ्या प्रपञ्च का आश्रय हूं, तब उस पुरुष को उसकी जिहासारूप मुमुक्षा उत्पन्न होती है। एक सम्बन्धिज्ञान अपर सम्बन्धी का स्मारक होता है— इस नियम के आधार पर मिथ्याद्वैताश्रयत्वरूपसम्बन्धी का ज्ञान अपर सम्बन्धी—मुमुक्षा का स्मारक होगा। इस प्रकार मिथ्याद्वैताश्रयत्व के कहने से ही प्रकृत ग्रन्थ के श्रवण में अधिकारी—मुमुक्षावान् सूचित हो गया। प्रश्न होता है कि यदि अखण्डब्रह्माकारज्ञानत्वावच्छिन्न अखण्डब्रह्माकार ज्ञान में दृश्यमात्र के उच्छेदकत्व है तब तो आपाततः जायमान अखण्डब्रह्माकार ज्ञान में भी दृश्यमात्र के उच्छेदकत्व की आपत्ति आयेगी। इस शङ्का के निवारणार्थ अद्वैतसिद्धिकार ने कहा—श्रुतिशिखोत्थेति। यहां पर श्रुति शब्द से कर्मोपासनाकाण्डरूप श्रुति को लेना है। उन कर्मोपासनाकाण्डरूप श्रुतियों का मुख्य है— महावाक्य, क्योंकि कर्मोपासनाकाण्ड महावाक्य का उपकारक है और उपकार्य है महावाक्य। उपकारक (सेवक) से उपकार्य (सेव्य) मुख्य होता है। जैसे सेवक की अपेक्षा से सेव्य (राजा) मुख्य होता है। इसमें दृष्टान्त दिया—शिखा का। जैसे दीपशिखा की प्रकाशन क्षमता में तैल—पात्र—वर्ती इत्यादि सहयोगी होते हैं। यहां पर प्रकाशनरूप कार्य मुख्य है और तैलादि उसके उपकारक हैं। इस प्रकार कर्मोपासनाकाण्ड द्वय से उपकृत महावाक्यजन्य साक्षात्कारात्मकज्ञान ही दृश्यमात्र का उच्छेदक होता है। कर्मोपासनाकाण्डरूप श्रुतियां महावाक्य के उपकारक कैसे हैं। उसे स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि निष्काम कर्म के अनुष्ठान से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण में निष्काम भक्ति के बल पर चित्तैकाग्रता आती है। इस प्रकार कर्मोपासनाकाण्ड द्वयरूप श्रुति से उपकृत एकाग्र—अन्तःकरण में महावाक्यों के द्वारा जन्य साक्षात्कारात्मक तत्त्वज्ञान ही सर्वदृश्य का उच्छेदक होता है। श्रवणादि साधनों के बिना आपाततः जायमान ब्रह्मज्ञान दृश्य का उच्छेदक

श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानामैक्येन साक्षात्कृतमाधवानाम्।
स्पर्शनं निर्धूततमोरजोभ्यः पादोत्थितेभ्योऽस्तु नमो रजोभ्यः॥ २॥

लघुचन्द्रिका

द्वारोक्तश्रुत्युपकृतवाक्यजन्यज्ञानस्यैव तदिति भावः॥ १॥ —॥ १॥

परममङ्गलरूपां परब्रह्मरूपविषयप्रयोजनोक्तिं सम्पाद्य परमगुरु—गुरु—विद्यागुरुन् प्रणमति—
श्रीरामेत्यादि। ऐक्येन=आत्मैक्येन। माधवानाम्=परब्रह्मणाम्॥ २॥ —॥ १०॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं होता है— यही भाव है॥१॥

प्रश्न होता है कि अद्वैतसिद्धि के प्रथम श्लोक में विष्णु पद का नारायण—ईश्वर आदिरूप व्याख्यान न करके जीवपरक व्याख्यान किया गया है। अतः प्रथम श्लोक को ईश्वरस्मरणात्मकमङ्गलपरक नहीं माना जा सकता है। जबकि शिष्टाचार से सिद्ध है कि ग्रन्थ के आदि में मङ्गलाचरण होना चाहिए। अतः ग्रन्थकार के द्वारा “श्रीराम....” इत्यादि गुरुनमस्कारात्मक मङ्गल श्लोक को ही प्रारम्भ में क्यों नहीं लिखा गया? इसी प्रकार यह भी प्रश्न होता है कि प्रथम श्लोक के द्वारा मुमुक्षुरूप अधिकारी के सूचित होने पर भी विषयादि का बोधन न होने से ग्रन्थ में न्यूनता क्यों न मान लिया जाय?। इन शङ्काओं का समाधान करते हुए लघुचन्द्रिकाकार कह रहे हैं कि प्रथम श्लोक में विष्णु पद का जीवपरक व्याख्यान होने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि परब्रह्माभिन्नजीवचैतन्य ही ग्रन्थ के द्वारा प्रतिपाद्य है। अतः (अज्ञात) परब्रह्म ही इस ग्रन्थ का विषय है और वही परब्रह्म अनावृत प्रकाशाभिन्नानावृतानन्दरूप से अर्थात् ज्ञातरूप से प्रयोजन है। इस प्रकार प्रथम श्लोक के द्वारा परब्रह्मरूप विषय और प्रयोजन का प्रतिपादन होने से प्रथम श्लोक को परम मङ्गलश्लोक मानना भी उचित ही है। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा उठायी गयी दोनों शङ्काओं का निराकरण हो गया। प्रथम पद्य के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से परम मङ्गल के सम्पादन के अनन्तर ग्रन्थकार क्रम से अपने परम गुरु (गुरु के गुरु— श्रीरामसरस्वती) दीक्षागुरु (श्रीविश्वेश्वरसरस्वती) और विद्या गुरु (श्रीमाधवसरस्वती) को प्रणाम करते हैं— “श्री रामेत्यादि”। “ऐक्येन साक्षात्कृतमाधवानाम्” इसमें आये हुए ऐक्य का अर्थ है— आत्मा के साथ ऐक्य और माधव का अर्थ है—परब्रह्म॥ १०॥

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ग्रन्थारम्भः



१. उक्तिमिति—प्रथमश्लोकरूपामित्यर्थः। परब्रह्माभिन्नजीवचैतन्यस्यैव विषयत्वम्, ग्रन्थप्रतिपाद्यत्वात्, अनावृतप्रकाशाभिन्नानावृतानन्दरूपत्वाच्च परब्रह्माभिन्नजीवचैतन्यस्यैव प्रयोजनत्वमिति भावः।
२. इति मङ्गलश्लोकार्थविवरणमिति शेषः।

ग्रन्थारम्भप्रयोजनम्

बहुभिर्विहिता बुधैः परार्थं विजयन्तेऽमितविस्तृता निबन्धाः।

मम तु श्रम एष नूनमात्मम्भरितां भावयितुं भविष्यतीह ॥ ३॥

श्रद्धाघनेन मुनिना मधुसूदनेन संगृह्य शास्त्रनिचयं रचितातियत्नात्।

लघुचन्द्रिका

ममात्मम्भरिताम्=मन्त्रिष्ठां स्वार्थसम्पादकताम्। भावयितुम्=जनयितुम्। एष श्रमः= एतद्ग्रन्थसम्पादनम्, परोक्तदूषणोद्धारपूर्वकस्वमतपरिच्छेदविशेषस्यैतद्ग्रन्थे क्रियमाणस्याति-
लोकोत्तरत्वेनान्यैरेतद्ग्रन्थदर्शनात्पूर्वमज्ञातत्वेनाकामितत्वान्मयैव पूर्वं कामितमुक्तपरिच्छेदरूपं फलं
भावयिष्यत्ययं ग्रन्थो नान्यैः कामितमिति भावः॥ ३॥ -॥ १॥

सिद्धिः=निश्चयः। इयम्=एतद्ग्रन्थाधीना।

“सिद्धीनामिष्ट-नैष्कर्म्य-ब्रह्मगानामियं चिरात्।

अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थी समायात॥”

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस ग्रन्थ को आरम्भ करने का क्या प्रयोजन है? इसको स्वयं ही आचार्यप्रवर स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि “ममात्मम्भरिताम्”— मेरी आत्मम्भरिता अर्थात् मेरे (श्रीमधुसूदनसरस्वती) में स्थित जो स्वार्थ सम्पादकता उसको उत्पन्न करने के लिए ही एतद्ग्रन्थ सम्पादनरूप यह श्रम मेरे द्वारा किया गया है। अद्वैतसिद्धिकार का भाव क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए लघुचन्द्रिकाकार कह रहे हैं कि इस ग्रन्थ में न्यायामृतकारादि द्वैतवादिओं के द्वारा अद्वैतवाद पर कथित दूषणों का निराकरण पूर्वक स्वमत का निश्चयात्मक विशेषज्ञान अर्थात् नवीन युक्तियों के द्वारा अद्वैत मत का पोषण जो क्रियमाण है, वहीं ग्रन्थकार का स्वार्थ (अभीष्ट अर्थ) है। वह अतिलोकोत्तर है। इसलिए वह क्रियमाण स्वार्थ इस ग्रन्थ को देखने से पहले अन्यो के द्वारा अज्ञात है। ज्ञात विषय की कामना होती है, अज्ञात विषय की नहीं। इसलिए उक्त स्वार्थ अन्यो के द्वारा अकामित भी है। अभी (जिस समय में ग्रन्थारम्भ हो रहा है उस समय में) केवल ग्रन्थकार द्वारा ही कामित है। इसलिए सर्वप्रथम यह ग्रन्थ ग्रन्थकार में ही ग्रन्थकार द्वारा पूर्वकामित परोक्त दूषणोद्धारपूर्वक स्वमतनिश्चयात्मक विशेषज्ञानरूप फल को उत्पन्न करेगा, अन्यो से कामित फल को नहीं। अर्थात् उक्त फल की कामना सर्वप्रथम ग्रन्थकार के द्वारा की गयी है। अतः सर्वप्रथम यह ग्रन्थ ग्रन्थकार में उक्त फल को उत्पन्न करेगा। अर्थात् ग्रन्थकार का ही कामित जो स्वार्थ है उसका साधक यह ग्रन्थ सर्वप्रथम होगा। इसलिए ही अद्वैतसिद्धिकार ने कहा—“ममात्मम्भरितां भावयितुं भविष्यति।”॥३॥ -॥ १॥

अद्वैतसिद्धि का घटक सिद्धि शब्द का अर्थ निष्पत्ति नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अद्वैत पदार्थ ब्रह्म है। उसकी उत्पत्ति होती नहीं है। अतः प्रकृतोपयोगी सिद्धि शब्द का अर्थ करते हुए लघुचन्द्रिकाकार कह रहे हैं कि सिद्धि शब्द का अर्थ है—निश्चय। अतः अद्वैतसिद्धि का अर्थ होगा—अप्रामाण्यज्ञानानाशकन्दिताद्वैतनिश्चय। अप्रामाण्यज्ञानानाशकन्दिताद्वैतनिश्चयात्मक सिद्धि इस ग्रन्थ के अधीन होने के कारण इस ग्रन्थ को भी अद्वैतसिद्धि कहा जाता है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ के समाप्ति के अवसर पर स्वयं अद्वैतसिद्धिकार ने यह जो कहा है—

सिद्धीनामिष्टनैष्कर्म्यब्रह्मगानामियं चिरात्।

बोधाय वादिविजयाय च सत्त्वराणामद्वैतसिद्धिरियमस्तु मुदे बुधानाम् ॥ ४॥

लघुचन्द्रिका

इत्येतद्ग्रन्थीयसमाप्तिस्थानीयपद्यस्यसिद्धिपदान्यपि तत्तद्ग्रन्थाधीननिश्चयपराण्येव। परिच्छेद—समाप्त्यादिस्थले सिद्धिपदं साधकग्रन्थपरम्, निश्चयपरमेव वा; अद्वैतनिश्चयोपयोगी प्रथमपरिच्छेद इत्याद्यर्थकत्वसम्भवेन लक्षणायां मानाभावात्। अस्मदादिभिस्तु स्वकीयसङ्केतविशेषेणास्मिन् ग्रन्थेऽद्वैतसिद्धिपदं प्रयुज्यते॥ ४॥ —॥ २॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थी समजायत॥

(इष्टनैष्कर्म्यब्रह्मणानाम् = इष्ट, नैष्कर्म्य, ब्रह्म इन शब्दों के अव्यवहित उत्तर में स्थित, सिद्धीनाम् = सिद्धि पद। अर्थात् चिरकाल से आचार्य श्रीविमुक्तात्मा की इष्टसिद्धि, वार्त्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य की नैष्कर्म्यसिद्धि और आचार्य श्रीमण्डनमिश्र की ब्रह्मसिद्धि नाम के तीन ही सिद्धि ग्रन्थ प्रचलित थे। अब यह अद्वैतसिद्धि नामक चतुर्थ सिद्धि ग्रन्थ हो गया)। इस श्लोक में स्थित सिद्धि पदों का भी अर्थ तत्तद् ग्रन्थ अधीन निश्चयपरक ही है। यहां पर प्रश्न होता है कि यदि सिद्धि शब्द निश्चय परक है। तब अद्वैतसिद्धिकार ने “अद्वैतसिद्धौ प्रथमः परिच्छेदः” इत्यादि परिच्छेद समाप्ति स्थलों पर सिद्धि शब्द का ग्रन्थ परक प्रयोग क्यों किया है? इसका समाधान देते हुए कह रहे हैं कि परिच्छेद के समाप्ति स्थलों पर आये हुए सिद्धि पदों का लक्षणावृत्ति से निश्चयात्मक सिद्धि के साधकीभूत ग्रन्थ परक अर्थ किया जाता है। जघन्यवृत्ति लक्षणा होती है। इस अरुचि के कारण कह रहे हैं कि उक्त स्थलों पर भी आये हुए सिद्धि पदों का अर्थ निश्चय परक ही होता है। इस पर जिज्ञासा होती है कि “अद्वैतसिद्धौ प्रथमः परिच्छेदः” इत्यादि स्थलों पर अर्थ का समन्वय कैसे होगा? इसके समाधान में कह रहे हैं कि सिद्धि शब्द का निश्चयपरक अर्थ करने पर “अद्वैतसिद्धौ प्रथमः परिच्छेदः” का अर्थ होगा—अप्रामाण्यज्ञानानाशकन्दिताद्वैतनिश्चयोपयोगी प्रथमः परिच्छेदः। इसलिए सिद्धि पद की ग्रन्थ में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं है। प्रश्न होता है कि जब किसी विद्यार्थी से पूछा जाता है कि तुम कौन से ग्रन्थ को पढ़ रहे हो? तब वह उत्तर देता है—अद्वैतसिद्धि नामक ग्रन्थ पढ़ रहे हैं। यहां पर सिद्धि पद का लक्षणा वृत्ति से ग्रन्थ परक अर्थ होने पर उपरोक्त व्याख्या से विरोध क्यों न माना जाय? इसके समाधान में कह रहे हैं कि जैसे किसी को सङ्केत करने के लिए देवदत्तादि नाम से पुकारा जाता है। ऐसे ही हम लोग अपने आधुनिक सङ्केत से इस ग्रन्थ को अद्वैतसिद्धि नाम से पुकारते हैं। वास्तव में अद्वैतसिद्धि पद का अर्थ अप्रामाण्यज्ञानानाशकन्दिताद्वैतनिश्चय ही है॥४॥—॥२॥

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ग्रन्थारम्भप्रयोजनम्



द्वैतमिथ्यात्वोपपादनम्

तत्राद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वाद् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्। उपपादनं च

लघुचन्द्रिका

पूर्वकत्वादिति। “एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म” इत्यादिश्रुत्या जायमानेऽद्वैतत्वोपलक्षित—ब्रह्मनिर्विकल्पकनिश्चये ब्रह्मणि द्वैताभावविशिष्टबुद्धेर्द्वारत्वात्, तस्यास्य निषेधत्वेन प्राप्तिपूर्वकत्वेन द्वैतवति ब्रह्मणि द्वैतवत्त्वकालावच्छेदेन द्वैताभाववत्त्वविषयकत्वात्, “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्”

सत्त्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि अद्वैतसिद्धि में अद्वैत का ही प्रतिपादन करना चाहिए, किन्तु मूलकार के द्वारा अद्वैत को छोड़कर जो द्वैतमिथ्यात्व का प्रतिपादन किया गया है। वह असङ्गत है। इसके समाधान में मूल ग्रन्थ में कहा गया कि अद्वैतसिद्धि में द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्व है। अर्थात् “यत्र यत्र अद्वैतसिद्धिः तत्र तत्र द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वम्” ऐसी व्याप्ति यहां पर अभीष्ट है। अतः द्वैतमिथ्यात्व का प्रतिपादन करना असङ्गत नहीं है। अद्वैतसिद्धि में द्वैतमिथ्यात्व—सिद्धिपूर्वकत्व का समन्वय कैसे होगा? इसको स्पष्ट करने के लिए लघुचन्द्रिकाकार ने प्रतीक लिया—पूर्वकत्वादिति। प्रथम समन्वय स्थल को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि “एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म” (छा.उ.६.२.१) इत्यादि श्रुति से जायमान अद्वैतत्व (द्वैताभाव) से उपलक्षित ब्रह्मस्वरूप मात्र विषयक निर्विकल्पक निश्चयरूप ज्ञान में “ब्रह्म द्वैताभाववत्” इत्यात्मिका बुद्धि द्वार होती है, क्योंकि यह नियम है कि “उपलक्ष्यधर्मिबुद्धौ उपलक्षणीभूतधर्मविशिष्टबुद्धेर्हेतुत्वम्।” (उपलक्ष्यभूत धर्मी के ज्ञान में उपलक्षणीभूत धर्म से विशिष्ट बुद्धि हेतु मानी जाती है।) अतः अद्वैतसिद्धि में द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्व है। अर्थात् जैसे पहले काकविशिष्ट गृह का ज्ञान होता है। उसके पश्चात् काक के उड़ जाने पर काकोपलक्षित गृह का ज्ञान होता है। वैसे ही प्रकृत में भी अद्वैतश्रुति के द्वारा पहले (द्वारभूत के रूप से) द्वैताभावविशिष्ट ब्रह्म का ज्ञान होता है। उसके पश्चात् द्वैताभाव अधिष्ठान स्वरूप हो जाता है, क्योंकि अध्यस्त पदार्थों की निवृत्ति अधिष्ठान स्वरूप होती है। इस प्रकार से विशेषण के रूप से द्वैताभाव के न रहने पर भी वह द्वैताभाव उपलक्षण के रूप से द्वैताभाव उपलक्षित ब्रह्म का निश्चय करा देता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि अद्वैतश्रुति के द्वारा ब्रह्म में द्वैताभावप्रकारक बुद्धि उत्पन्न होने पर भी द्वैताभावोपलक्षित ब्रह्मनिश्चय (अद्वैत निश्चय) में द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्व सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि जिस समय ब्रह्म में द्वैताभावप्रकारक बुद्धि हो रही है उसी समय उक्त बुद्धि के द्वारा द्वैत में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं है। इसका समाधान “तस्याश्च” से दे रहे हैं। ब्रह्म में द्वैताभाव विशिष्ट बुद्धि द्वैतनिषेधात्मक होने के कारण प्रतियोगीभूत द्वैत—प्राप्ति की नियमतः अपेक्षा करती है, क्योंकि “प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यते” ऐसा अभियुक्तों का कथन है। इसलिए “द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववत्” ऐसा बोध श्रुति के द्वारा होता है। यहां उद्देश्यतावच्छेदक द्वैतवत्त्व और विधेय द्वैताभाववत्त्व है। उद्देश्यतावच्छेदक कालावच्छिन्न विधेय का भान नैसर्गिक है। अतः द्वैतवद्ब्रह्म द्वैतवत्त्वकालावच्छेदेन द्वैताभाववत्—ऐसी बुद्धि होगी। यह बुद्धि द्वैतमिथ्यात्वविषयक है। अर्थात् जिस समय ब्रह्म में द्वैत भास रहा है, उसी काल में ब्रह्म में द्वैत वास्तव में नहीं है। अतः स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का लक्षण द्वैत में चले जाने से द्वैत मिथ्यासिद्ध हो जायेगा। अतः उक्त बुद्धि के द्वारा द्वैताभावप्रकारक बोध काल में ही द्वैत में मिथ्यात्व

स्वपक्षसाधनपरपक्षनिराकरणाभ्यां भवतीति तदुभयं वादजल्पवितण्डानामन्यतमां कथामाश्रित्य सम्पादनीयम् ।

लघुचन्द्रिका

इति पूर्ववाक्य इदंशब्दार्थद्वैतसामान्यतादात्म्यस्य^१ लब्धत्वेन तस्य^२ द्वैताभावांश उद्देश्यता-
वच्छेदकत्वेन तत्र तत्कालावच्छेद्यत्वभानस्य^३ व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् ॥ १ ॥

इदमात्मकसतोऽग्रकालसत्त्वस्य द्वैताभाववत्त्वस्य च द्वयोर्विधाने वाक्यभेदस्येष्टत्वात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

का भी बोध होता है। इस प्रकार से अद्वैत श्रुति द्वैतमिथ्यात्व का बोध कराती हुयी द्वैताभावोपलक्षित ब्रह्म का निश्चय (अद्वैतसिद्धि) कराती है। अतः मूल में जो कहा गया है—अद्वैतसिद्धेद्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वात्” यह कथन उचित ही है। पूर्वपक्षी का कथन है कि “एकमेवाद्वितीयम्” इस श्रुति में किस पद का अर्थ किया गया—द्वैतवद्ब्रह्म। द्वैतवद्ब्रह्म का बोधक कोई पद दिखलायी नहीं पड़ रहा है। अर्थात् “द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववत्” का घटक द्वैतवद्ब्रह्म का प्रतिपादक वाक्य कौन है? इसके समाधान में कह रहे हैं कि “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्” (छा.उ.६.२.१) इस पूर्ववाक्य (एकमेवाद्वितीयम्—से पूर्ववाक्य) के “इदम्” पद के द्वारा ब्रह्मगतसामान्य द्वैततादात्म्य (द्वैतवत्त्व) का बोधन किया जाता है। (उस “इदम्” अर्थ की अनुवृत्ति उत्तर वाक्य (एकमेवाद्वितीयम्) में करने पर “एकमेवाद्वितीयम्” का अर्थ होगा—“द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववद्।”) वह द्वैतवत्त्व द्वैताभावरूप विधेय का उद्देश्यतावच्छेदक है। विधेय में उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व का भान औत्सर्गिक नियम से सिद्ध है। अन्यथा “गन्धप्रागभावविशिष्टो घटो गन्धवान्” इस वाक्य में भी प्रमाणत्व की आपत्ति होगी। यह पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। अतः उक्तश्रुतिद्वय के द्वारा यह सूचित हुआ है कि जिस काल में ब्रह्म में द्वैतवत्त्व है, उसी काल में द्वैताभावब्रह्म में है, अर्थात् द्वैत मिथ्या है अर्थात् द्वैताभाव (विधेय) में उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व का बोध किसी श्रुतिवाक्यस्थ किसी पद के द्वारा न होने पर भी उक्त औत्सर्गिक नियम के बल पर ही हो जाएगा। १॥

पीछे दोनों श्रुति वाक्यों को मिलाकर “द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववत्” ऐसा अर्थ किया गया। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि उभयवाक्य की एकवाक्यता करने पर समुदाय से द्वैततादात्म्यद्वैताभावोभयावच्छिन्नब्रह्मोद्देश्यकोऽग्रकालसत्त्वविधेयक बोध होगा। अर्थात् द्वैत और द्वैताभाव दोनों से अवच्छिन्न ब्रह्म सृष्टि के पूर्व में (अग्रकाल में) रहता है—ऐसा बोध होगा। किन्तु उससे द्वैतमिथ्यात्व का बोध नहीं हो सकता है, क्योंकि द्वैताभाव में द्वैतकालावच्छिन्नत्व का बोध उससे नहीं हो रहा है। अर्थात् जिस काल में द्वैत ब्रह्म में है उसी काल में ब्रह्म में द्वैताभाव रहे तब द्वैतमिथ्या सिद्ध होगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि दोनों श्रुति वाक्यों में एकवाक्यता होने के पश्चात् उस एक वाक्य से दो बोध होंगे—प्रथम—द्वैतविशिष्ट सदुद्देश्यकोऽग्रकालसत्त्वविधेयकबोध। (द्वैतवाला ब्रह्म सृष्टि के अग्रकाल (पूर्व) में रहता है।) द्वितीय—द्वैतविशिष्टसदुद्देश्यकद्वैताभावविधायक बोध। (द्वैतवाला ब्रह्म में द्वैताभाव रहता है।) यद्यपि इस दूसरे बोध से द्वैतमिथ्यासिद्ध हो सकता है, किन्तु एक वाक्य से दो विधान मानने पर वाक्यभेद हो जायेगा। इसके समाधान में आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि “इदम्” शब्द वाच्य द्वैतविशिष्ट सद्वद्ब्रह्म के उद्देश्य से अग्रकालसत्त्व और द्वैताभाव—उभय के विधान करने पर

लघुचन्द्रिका

द्वैतवति द्वैताभावबोधस्याहार्यत्वेन 'शाब्दत्वासम्भवेऽपीदंपदस्य दृश्यत्वरूपेण द्वितीयपदस्य चात्मभिन्नत्वरूपेण बोधकत्वेनाहार्यत्वाभावात् ॥२॥

कालान्तरावच्छेदेन द्वैताभाववत्त्वविषयकधियश्च "तरति शोकमात्मवित्" "विद्वानाम—

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्राप्त जो वाक्यभेद वह हमें अभीष्ट ही है, क्योंकि उक्त स्थल पर मिथ्यात्व की सिद्धि की दृष्टि से दो वाक्य ही माने जाते हैं, एक वाक्य नहीं। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि पूर्वोक्त प्रकार से उक्त श्रुति का अर्थ "द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववत्" करने पर भी शाब्दबोध सम्भव नहीं है, क्योंकि द्वैतवत्त्वोद्देश्यतावच्छेदक द्वैताभावविधेयक (द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववत् ऐसा) बोध आहार्य (भ्रमात्मक) होता है। बाधकालीनेच्छाजन्य ज्ञान को आहार्य ज्ञान कहते हैं। जैसे भूतल में जब घट दिखलायी पड़ रहा है, उस समय भूतल में घटाभाववत्त्व का बोध बाधित है, फिर भी उस समय भूतल का घटाभाववत्त्व मानकर यदि कोई हठात् कहता है कि—“घटवद्भूतलं घटाभाववत्” तो उसका यह ज्ञान आहार्यज्ञान कहलायेगा। अथवा स्वविरोधिधर्मधर्मितावच्छेदक—स्वप्रकारकज्ञान को आहार्य ज्ञान कहा जाता है। जैसे “घटवद् भूतलं घटाभाववत्” ऐसे ज्ञान में स्व=घटाभाव, उसका विरोधी=घट, वही घट धर्मितावच्छेदक (घटवद्भूतलम्—इस धर्मी का अवच्छेदक) है और वह ज्ञान घटाभाव प्रकारक है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि आहार्यज्ञान प्रत्यक्षात्मक ही होता है—ऐसा नैयायिकों का सिद्धान्त है, क्योंकि शब्दादि से जन्यज्ञान इच्छाजन्यज्ञान नहीं होता है, क्योंकि वक्ता के प्रयुक्त शब्द के अनुसार ही श्रोता को ज्ञान होगा, न कि श्रोता को इच्छानुसार ज्ञान होगा। अतः प्रकृत में “द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववत्” इस शब्द से होने वाले ज्ञान को आहार्यज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान को ही आहार्यज्ञान कहा जाता है। अतः प्रकृत में आहार्यज्ञान को मान कर दोष देना अनुचित है। इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि “द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववद्” इस स्थल पर द्वैतवाले में द्वैताभाव का बाध होने के कारण शाब्दबोध के प्रति कारणरूपा योग्यता का बाध हो जाने से शाब्दबोध भी असम्भव है। इस शङ्का का समाधान करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उद्देश्यान्तर्गत “इदम्” पद दृश्यत्वेन दृश्य का बोधक माना जाता है और विधेय—अद्वितीय का घटक द्वितीय पद आत्मभिन्नत्वेन दृश्य का बोधक माना जाता है। अतः समुदायार्थ होगा—दृश्यवद्ब्रह्म आत्मभिन्नाभाववत्। यहां पर भिन्न—भिन्न प्रकार से दोनों पद दृश्य के बोधक हैं। अतः यह ज्ञान वैसे ही आहार्यज्ञान नहीं है जैसे कि “घटवद् भूतलं पटाभाववत्।” इस ज्ञान को आहार्य ज्ञान नहीं माना जाता है। आत्मभिन्नाभाव का दृश्यवत्त्व शब्दतः विरोधी नहीं है। अतः यहां पर योग्यता का बाध न होने के कारण शाब्दबोध भी हो जायेगा ॥२॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त श्रुति से “द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववद्” ऐसा शाब्दबोध होता है—ऐसा स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी द्वैतगत मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि “द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववद्” का अर्थ यह किया जा सकता है कि बद्ध काल में ब्रह्म

१. शाब्दत्वासम्भवेऽपीति—शाब्दबोधे योग्यतायाः कारणतया द्वैतवति द्वैताभावबाधाद् योग्यताया अभवादितीभावः।
२. तदेव हि आहार्यं ज्ञानं यत्रोद्देश्यतावच्छेदकतावच्छेदकप्रतियोगितावच्छेदकयोरैक्यम्। वह्न्यभाववान् हृदो वह्निमानिति वत्।

लघुचन्द्रिका

रूपाद्विमुक्तः” “ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः” इत्यादिश्रुतिभिर्ज्ञानाशयत्वानुमापकदृश्यत्व—
लिङ्गादिरूपमानान्तरेण च सिद्धत्वेन तज्जनने वाक्यवैयर्थ्यापत्तेः, एककालावच्छिन्न
प्रतियोग्यभावयोरेकाधिकरणवृत्तित्वधीरूपो मिथ्यात्वनिश्चयः॥३॥

अथवा मिथ्यात्वघटकस्याभावस्य सदा सर्वत्र विद्यमानत्वेनावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वेन मिथ्यात्व

सत्यानन्दप्रबोधिका

में द्वैत है और मुक्तकाल में ब्रह्म में द्वैताभाव है। एतावता द्वैतगत मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि घट जिस काल में भूतल में है उससे भिन्न काल में यदि भूतल में घटाभाव है तो इससे घटगत मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्न विधेय होता है—ऐसा नियम है। अतः उद्देश्यतावच्छेदक=द्वैतवत्त्व के काल से अवच्छिन्न विधेय=द्वैताभाव को मानना चाहिए। ऐसा मानने पर द्वैतगत मिथ्यात्व सिद्ध हो जायेगा। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती ने स्वयं ही पीछे उक्त नियम को औत्सर्गिक कहा है। जो औत्सर्गिक नियम होता है, वह कहीं पर लगता है और कहीं पर नहीं लगता है। और जहां पर औत्सर्गिक नियम नहीं लगता है, वहां पर कोई बाधक बतलाना पड़ता है और जहां पर औत्सर्गिक नियम लगता है वहां पर कोई अनुकूल तर्क देना पड़ता है। प्रकृत में सिद्धान्ती के द्वारा कोई अनुकूल तर्क दिया नहीं गया, जिसके आधार पर उक्त नियम को मानकर द्वैतगत मिथ्यात्व सिद्ध हो सके। पूर्वपक्षी की इस शङ्का के निवारणार्थ सिद्धान्ती के द्वारा यह अनुकूल तर्क दिया जा रहा है कि जिस काल में ब्रह्म में द्वैत है उससे भिन्न काल में (तत्त्वज्ञानोत्तर काल में) ब्रह्म में द्वैत नहीं है। इस अर्थ का बोध तो “एकमेवाद्वितीयम्” इस श्रुति से भिन्न श्रुति “तरति शोकमात्मवित्” (छा. उ. ७.१.३) (आत्मवित् शोक से उपलक्षित संसार से मुक्त हो जाता है।) “विद्वानामरूपाद्विमुक्तः” (मु. उ. ३.२.८) (ब्रह्मवित् नाम और रूप से विमुक्त होता है।) “ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः” (श्वेता. उ. १-८) (स्वप्रकाशस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार कर के सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा और “द्वैतं ज्ञाननाशयम्, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्” इत्यादि मिथ्यात्वसाधकानुमानों से भी होता है। ऐसी स्थिति में “एकमेवाद्वितीयम्” इस वाक्य के द्वारा भी “ब्रह्म में तत्त्वज्ञानोत्तर काल में द्वैत नहीं है” का बोधन स्वीकार करने पर “एकमेवाद्वितीयम्” यह श्रुतिवाक्य व्यर्थ हो जायेगा। अतः “एकमेवाद्वितीयम्” इस वाक्य की प्रामाण्यान्यथानुपपत्तिरूप तर्क के कारण द्वैताभावरूप विधेय में उद्देश्यतावच्छेदक (द्वैतवत्त्व) कालावच्छिन्नत्व का भान मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर “एकमेवाद्वितीयम्” इस श्रुति वाक्य के द्वारा समानकालीन प्रतियोगी (द्वैत) और अभाव (द्वैताभाव) दोनों का ब्रह्मरूपैकाधिकरण—वृत्तित्वविषयकधीरूप मिथ्यात्वनिश्चय हो जाने पर ही अद्वैतसिद्धि होती है। अतः मूल में यह उचित ही कहा है कि “अद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वात्।” अर्थात्—“यत्र यत्र अद्वैतसिद्धिः तत्र तत्र द्वैतमिथ्यात्वपूर्वकत्वम्” यह सद्व्याप्ति है॥३॥

सिद्धान्ती के द्वारा “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्” “एकमेवाद्वितीयम्” इस श्रुतिद्वय में वाक्यभेद स्वीकार कर द्वैतमिथ्यात्वनिश्चय पूर्वक अद्वैत निश्चय का प्रतिपादन किया गया किन्तु इस पक्ष में अरुचि का कारण यह है कि “सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्य भेदो हि नेष्यते”

लघुचन्द्रिका

नोक्तरूपम्, किन्तु तादृशान्यत्वविशिष्टेनाभावेन घटितम्। तथा च प्रत्यक्षादिप्रमाणस्याद्वैतश्रुति-
बाध्यत्वेन ब्रह्मणि कालविशेषाद्यवच्छिन्नद्वैताभावबोधकत्वरूपे श्रुतिसङ्कोचे हेतोरभावेन 'तादृशाभावस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस न्यायानुसार जहां दो परस्पर सम्बन्धित वाक्य एक ही प्रकरण में आते हैं तो वहां एकवाक्यता सम्भव होने के कारण वाक्यभेद मानना उचित नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि सिद्धान्ती के द्वारा कहा गया कि "तरति शोकम्" इत्यादि तीनों श्रुति वाक्यों से कालान्तरावच्छेदेन ब्रह्म में द्वैताभाववत्त्व का बोध होता है। अतः "एकमेव" श्रुति से भी वही बोध हो तो "एकमेव" यह श्रुति व्यर्थ हो जायेगी। इस पक्ष में अरुचि का कारण यह है कि एक प्रकरण में एकार्थक अनेक श्रुति व्यर्थ हो सकती है, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकरण में स्थित एकार्थक अनेक श्रुतियों को व्यर्थ नहीं माना जाता है। दूसरी बात यह है कि "तरति शोकम्" इत्यादि श्रुतियों से कालान्तरावच्छेदेन ब्रह्म में द्वैतवत्त्व का बोध नहीं होता है किन्तु निरवच्छेदेन। किसी कालावच्छेदेन द्वैताभाव का बोधन होने से अन्य काल में द्वैत के रहने की सम्भावना होने पर द्वैतगत मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा, निरवच्छेदेन बोधन होने पर ही द्वैतगत मिथ्यात्व सिद्ध होगा। इस प्रकार से अव्यवहित पक्ष में अरुचि होने के कारण अन्य प्रकार से अद्वैतसिद्धि के पूर्व द्वैतमिथ्यात्वनिश्चय का निरूपण करते हैं—अथवा स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व के लक्षण में जो अत्यन्ताभाव है, वह सर्वकालावच्छेदेन और सर्वदेशावच्छेदेन विद्यमान हुआ करता है। ऐसा अभाव ही 'एकमेवाद्वितीयम्' के द्वितीयाभाव के घटक अभाव पद से गृहीत है। इसलिए मिथ्यात्व घटकीभूत अभाव अवच्छिन्नवृत्तिक अभाव (तत्कालतद्देशावच्छेदेन वर्तमान अभाव) से भिन्न होता है। अर्थात् ऐसे अभाव का न कोई काल अवच्छेदक होता है और न कोई देश ही अवच्छेदक होता है। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मिथ्यात्व अवच्छिन्नवृत्तिकाभाव से घटित नहीं है किन्तु अवच्छिन्नवृत्तिकाभाव से भिन्न सर्वदेशकालावच्छिन्नवृत्तिकाभाव से घटित है। इसलिए मिथ्यात्व का लक्षण होगा—“स्वाश्रयनिष्ठावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वविशिष्ट स्वाभावप्रतियोगित्वम्।” यहां पर स्व पद से मिथ्याभूत द्वैतप्रपञ्च को लेना है। उसके आश्रयीभूत ब्रह्म में विद्यमान अवच्छिन्नवृत्तिकाभाव (अल्पकाल और अल्प देश में रहने वाला अभाव) से अन्यत्व विशिष्ट (निरवच्छिन्नवृत्तिक) द्वैताभाव। उसका प्रतियोगित्व द्वैत में है। अतः द्वैतगत मिथ्यात्व सिद्ध हो जायेगा। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि ब्रह्म में द्वैत का त्रैकालिकाभाव सिद्ध ही नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से द्वैतसिद्ध है। अतः श्रुत्यर्थ में सङ्कोच करके यह अर्थ करना चाहिए कि विद्योत्तरकालावच्छेदेन द्वैताभाव ब्रह्म में रहता है। ऐसा अर्थ करने पर द्वैतगतमिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि सिद्धान्ती के द्वारा जिस काल में जो वस्तु प्रतीत हो रही है उसी काल में उसमें अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व सिद्ध होने पर उसमें मिथ्यात्व माना जाता है। इस शङ्का का समाधान करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष चन्द्रपरिमाण के बोधक आगम के द्वारा बाधित हो जाता है। ठीक उसी प्रकार चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष के समान ही 'घटः सन्' इत्यादि प्रत्यक्ष भी है

१. तादृशाभावस्येति— श्रुतिबोधितब्रह्मवृत्तिद्वैताभावस्येत्यर्थः।

लघुचन्द्रिका

त्रैकालिकत्वनिश्चयात् ॥४॥

सार्वज्ञ्यं—सर्वकार्योपादानत्वबोधकश्रुतेरपि लक्षणवाक्यविधया निर्विकल्पकनिश्चय—जनकत्वेऽपि तत्र तादृशनिश्चयस्य सर्वद्वैततादात्म्यविशिष्टधीपूर्वकत्वात्, सर्वतादात्म्यस्यैवब्रह्मणि

सत्यानन्दप्रबोधिका

क्योंकि प्रत्यक्षत्वेन दोनों में साजात्य है। अतः “घटः सन्” “पटः सन्” इत्यादि प्रत्यक्ष परीक्षित प्रामाण्यक अद्वैत आगम के द्वारा बाधित हो जायेंगे। अतः प्रत्यक्ष के अनुरोध पर श्रुत्यर्थ का सङ्कोच कर के ब्रह्म में द्वैतानधिकरणकाल (विद्योत्तरकाल) से अवच्छिन्न द्वैताभाव रूप अर्थ “एकमेवाद्वितीयम्” इस श्रुति का नहीं किया जा सकता है। प्रश्न होता है कि श्रुति का सङ्कोच कर के जब यह अर्थ किया गया कि ब्रह्म में विद्योत्तरकाल में द्वैत नहीं है। ऐसा अर्थ करने से जब श्रुत्यर्थ की उपपत्ति हो जाती है तब श्रुति के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध क्यों माना जा रहा है। इसके समाधान में कहा—हेतोरभावेनेति। श्रुति से जो अभाव का बोधन हुआ, उस अभाव में जब कोई विशेषण नहीं दिया गया है तब उस अभाव से त्रैकालिकभाव ही लेना उचित है। वैसा न लेकर किसी एक विशेष काल में अभाव है—इस प्रकार से श्रुत्यर्थ में सङ्कोच करने में कोई हेतु नहीं है। इसलिए “एकमेवाद्वितीयम्” इस श्रुति के द्वारा भी बोधित ब्रह्मवृत्ति द्वैताभाव में त्रैकालिकत्व का निश्चय हो ही जाता है। अतः द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वक अद्वैत का निश्चय होता है—ऐसा अद्वैतसिद्धिकार का कथन उचित ही है ॥४॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि “एकमेवाद्वितीयम्” इस श्रुति वाक्य के द्वारा ब्रह्म त्रैकालिक द्वैताभाव से उपलक्षित है ऐसा बोध होता है, और उपलक्षित बुद्धि विशिष्टबुद्धिपूर्वक होती है—इस नियम के बल पर यह मानना पड़ेगा कि उक्त श्रुति के द्वारा उक्त उपलक्षित ब्रह्म का बोध होने से पहले द्वार के रूप से उक्त श्रुति के द्वारा ही द्वैतवाला ब्रह्म त्रैकालिक द्वैताभाव से विशिष्ट है—ऐसा जो बोध होता है। वही द्वैतमिथ्यात्वविषयक बोध होता है। इस प्रकार यहां पहले द्वैतमिथ्यात्व का ज्ञान हुआ, इसके पश्चात् अद्वैत का निश्चय हुआ। अतः “यत्र यत्र अद्वैतसिद्धिः तत्र तत्र द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वम्” यह व्याप्ति इस श्रुति वाक्य में मिल गयी, किन्तु “यः सर्वज्ञः सर्ववित्” (मु. उ. १.१.९) इत्यादि ब्रह्म के जो लक्षण वाक्य है। उन लक्षण वाक्यों से भी ब्रह्म का निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है, सविकल्पक ज्ञान नहीं होता है। अर्थात् शुद्ध ब्रह्मरूप प्रातिपदिकमात्र का बोध होगा न कि द्वैताभाव से उपलक्षित ब्रह्म का। ब्रह्म का प्रातिपदिक मात्र का बोध विशिष्ट ज्ञान पूर्वक होता नहीं है। अतः लक्षण वाक्य के द्वारा जो अद्वैतसिद्धि होगी, वह द्वैतमिथ्यात्वपूर्वक नहीं होगी। अतः “यत्र यत्र अद्वैतसिद्धिः तत्र तत्र द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वम्” इस व्याप्ति में व्यभिचारदोष आ गया। इसका समाधान करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि “यः सर्वज्ञः सर्ववित्” (मु. उ. १.१.९) “तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते” (मु. १.१.९) इत्यादि सार्वज्ञ्य और सर्वकार्योपादनत्व

१. ननु “एकमेवाद्वितीयम्” इति श्रुतिवाक्यजन्याद्वैतब्रह्मनिश्चयस्य पूर्वोक्तरीत्या द्वैतमिथ्यात्वनिश्चय—पूर्वकत्वनिर्वाहेऽपि “यः सर्वज्ञः” “तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपम्” इत्यादिलक्षणवाक्यस्यापि अद्वैतनिर्विकल्पकनिश्चयजनकत्वात् तत्पूर्वकाले द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयाभावात्, अद्वैतसिद्धिसामान्यरूप मिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वानुपपत्तिप्रसङ्ग इत्यत आह—सार्वज्ञ्येति ॥

लघुचन्द्रिका

सर्वविषयकत्वरूपत्वात्, सर्वोपादानत्वस्य ब्रह्मणि स्वात्मकसर्वजनकत्वरूपत्वात्, “एकमेवाद्वितीयम्” इति “यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः, तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपम्” इति श्रुतिद्वये लक्षणादिवृत्त्या द्वैतवत्परब्रह्मनिष्ठस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वरूपप्राकालिकत्वविशिष्टा—
त्यन्ताभावस्य प्रतियोगि द्वैतमिति धीरूपो मिथ्यात्वनिश्चयः, इति तत्पूर्वकत्वमुक्तनिर्विकल्पकनिश्चय

सत्यानन्दप्रबोधिका

की बोधक श्रुतियां भी लक्षण वाक्य होने के कारण उनको ब्रह्मविषयक निर्विकल्पक अद्वैतनिश्चय का जनक माना जाता है, क्योंकि लक्षण वाक्य अखण्डलक्ष्यमात्र के ही बोधक होते हैं, किन्तु जहां पर लक्षण वाक्य के द्वारा ब्रह्मविषयक निर्विकल्पक अद्वैत निश्चय होता है, वहां पर भी उक्त निर्विकल्पक अद्वैत निश्चय में सर्वद्वैतादात्म्यविशिष्टब्रह्मविषयकधीपूर्वकत्व है। कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वत्र ही लक्षण वाक्य के द्वारा लक्षण रूप धर्म से उपलक्षित धर्मी (लक्ष्य) के स्वरूपमात्र का कथन होता है और उस स्वरूपमात्र कथन से पूर्व अवान्तर वाक्य के रूप से लक्षण रूप धर्म से विशिष्ट लक्ष्य का भी बोध होता है, क्योंकि उपलक्ष्यभूतधर्मी के ज्ञान में उपलक्षणीभूतधर्मविशिष्टबुद्धि हेतु मानी जाती है। अतः निर्विकल्पक निश्चय को विशिष्टबुद्धिपूर्वक मानना उचित ही है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो कहा गया था कि लक्षण वाक्य के द्वारा शुद्ध ब्रह्म का ही बोध होता है न कि लक्षणरूपधर्म से विशिष्टलक्ष्य का। उसका खण्डन हो गया और पूर्वपक्षी के द्वारा दिया गया उक्त व्याप्तिगत व्यभिचार दोष का भी वारण हो गया। यहां पर प्रश्न होता है कि उक्त लक्षण वाक्य से सर्वज्ञत्वोपलक्षित ब्रह्म विषयक निर्विकल्पक बुद्धि होती है और उसमें सर्वज्ञत्वविशिष्टबुद्धि हेतु के रूप से अपेक्षित है न कि द्वैतादात्म्यविशिष्ट ब्रह्मबुद्धि। अतः लक्षण वाक्य से जन्य अद्वैतनिश्चय में द्वैत तादात्म्य विशिष्ट ब्रह्मबुद्धिपूर्वकत्व कहना उचित नहीं है? इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ब्रह्म में सर्वतादात्म्य को सर्ववित्त्व (सर्वविषयकत्व) और ब्रह्म में स्वतादात्म्यापन्नसर्वजनकत्व को सर्वोपादानत्व माना जाता है। अतः अद्वैतनिश्चय को सर्वज्ञत्वविशिष्ट बुद्धिपूर्वक कहना असङ्गत नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञत्वविशिष्टबुद्धि और सर्वतादात्म्य विशिष्टबुद्धि पूर्वोक्त प्रकार से एक ही है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि एतावता लक्षण वाक्य द्वयजन्य अद्वैतनिश्चय द्वैतज्ञानपूर्वक (द्वैतवद्ब्रह्म के ज्ञानपूर्वक) सिद्ध हुआ, न कि द्वैतमिथ्यात्व सिद्धिपूर्वक। अर्थात् “द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववद्” ऐसा ज्ञानपूर्वक सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि लक्षण वाक्य द्वय में द्वैताभाव का बोधन करने वाला कोई पद नहीं है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि “यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः” (जो सामान्य रूप से सर्वज्ञाता होने के कारण सर्वज्ञ है और विशेष रूप से सर्वज्ञाता होने के कारण सर्ववित्त्व है, जिसका ज्ञानमय (ईक्षणरूप) तप है।) “तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपम्” (उस ब्रह्म से यह नाम रूप उत्पन्न हुआ) इन दोनों लक्षण वाक्यों में प्रत्येक के साथ “एकमेवाद्वितीयम्” की एक वाक्यता करके “द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववद्” ऐसे बोध की उपपत्ति हो जाती है। ऐसा होने पर द्वैतविशिष्टब्रह्मवृत्तिनिरवच्छिन्नवृत्तिक अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का द्वैत में निश्चय हो जाता है। फलतः उक्त लक्षण वाक्यों

लघुचन्द्रिका

आवश्यकम् । ५॥

‘महावाक्यजन्याद्वैतनिश्चयस्यापि “नेह नानास्ति किञ्चन” “नात्र काचन भिदास्ति” इत्यादितत्पदार्थशोधकवाक्याधीनधीपूर्वकत्वात्, उक्तवाक्येन वर्तमानार्थलट्प्रत्यययुक्तत्वाद् द्वैतविशिष्टब्रह्मरूपोद्देश्यार्थकेहपदयुक्तत्वाच्च वर्तमानकालावच्छेदेनोद्देश्यतावच्छेदकद्वैत—

सत्यानन्दप्रबोधिका

से भी जन्य अद्वैतनिश्चय द्वैतमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वक होने से “यत्र यत्र अद्वैतसिद्धिः तत्र तत्र द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वम्” ऐसी व्याप्ति सुस्थिर है । ५॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि पूर्वोक्त प्रकार से अद्वितीयश्रुति के द्वारा और लक्षण वाक्यों के द्वारा अद्वैतनिश्चय द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वक होने पर भी तत्त्वमस्यादि महावाक्यों से जन्य अद्वैतनिश्चय द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वक नहीं होता है, क्योंकि तत्त्वमस्यादि महावाक्यों से जन्य अद्वैतनिश्चय से पहले महावाक्यों का शोधन होता है और उस शोधन से तो द्वैतमिथ्यात्व का निश्चय होता नहीं है। अतः “यत्र यत्र अद्वैतसिद्धिः तत्र तत्र द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वम्” इस व्याप्ति में पुनः व्यभिचारदोष आ गया। इसके समाधान में आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि महावाक्यजन्य अद्वैतनिश्चय भी “नेह नानास्ति किञ्चन” (बृ.उ. ४.४.१९) “नास्ति काचन भिदास्ति” (महावाक्योपनिषद्—४) इत्यादि तत्पदार्थशोधक वाक्यों से उत्पन्न ज्ञानपूर्वक होने के कारण द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वक है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि महावाक्यों का जो शोधन होता है, उससे द्वैतगतमिथ्यात्व का निश्चय नहीं होता है। उसके समाधान में कह रहे हैं कि शोधक वाक्यों से भी द्वैतगतमिथ्यात्व की सिद्धि होती है, क्योंकि “नेह नानास्ति किञ्चन” इस वाक्य से द्वैतविशिष्ट ब्रह्म में अस्तित्वविशिष्टद्वैताभाव का बोधन होता है। अर्थात् “नेह नानास्ति किञ्चन” यहां पर इह= द्वैतवद् ब्रह्मणि, नाना किञ्चन=ब्रह्मभिन्न वस्तुसामान्यम्, नास्ति=वर्तमानकालावच्छेदेनात्यन्ताभावप्रतियोगी। जिस उपदेश काल में ब्रह्म में द्वैत प्रतीयमान हो रहा है, उसी समय ब्रह्म में पारमार्थिकत्वेन द्वैत नहीं है। अतः द्वैतगतमिथ्यात्व सिद्ध हो गया। इस प्रकार सर्वज्ञत्व—अल्पज्ञत्वादि धर्मों के (जो कि द्वैतकोटि में हैं) के मिथ्या होने के कारण तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों से निर्विकल्पक अद्वैतनिश्चय होने में कोई बाधा नहीं है। यहां पर यह जो शङ्का थी कि द्वैतवद् ब्रह्म में द्वैताभाव का जो बोधन हो रहा है, वह द्वैताभाव किस काल से अवच्छिन्न है। यदि द्वैतवत्त्वावच्छिन्नकालभिन्नकालावच्छिन्न द्वैताभाव है, तब तो द्वैतगत मिथ्यात्वसिद्ध नहीं होगा। इसका समाधान दो प्रकार से दिया गया है। उसमें से प्रथम है कि उपदेश कालावच्छेदेन ही द्वैताभाव का बोधन होता है। इसके लिए दो हेतु दिये। प्रथम—उक्त वाक्य में आया हुआ वर्तमानार्थक लट् लकार है। अतः वर्तमान काल में ही द्वैताभाव का बोधन होता है। द्वितीय—उक्त वाक्य में आया हुआ “इह” पद शुद्ध ब्रह्म का बोधक नहीं है, किन्तु द्वैतविशिष्ट ब्रह्म का बोधक है और वही उद्देश्य है। “विधेये उद्देश्यता— वच्छेदककालावच्छिन्नत्वं भाति” इस नियम के बल पर द्वैतवत्त्वकालावच्छेदेन द्वैताभाव का बोधन ब्रह्म में होता है। इसमें प्रथम पक्ष को स्पष्ट करने के लिए लघुचन्द्रिका में अन्वय इस प्रकार से होगा—“उक्त वाक्येन

१— ननु तत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्याद्वैतनिश्चयस्य द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वानुपपत्त्या अद्वैतसिद्धिसामान्यस्य मिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वानुपपत्तिप्रसङ्ग इत्यत आह— महावाक्येति।

लघुचन्द्रिका

वत्त्वावच्छेदकदेशकालावच्छेदेन च द्वैतविशिष्टे ब्रह्मण्यस्तित्वविशिष्टस्य द्वैताभावस्य बोधनात्, अत्यन्ताभावस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वस्वीकारे निरवच्छिन्नविशेषणतया ताद्यब्रह्मवृत्तित्वबोधनात्, तत्सम्बन्धावच्छिन्नस्य प्रतियोगिसामानाधिकरण्यस्य निवेशादेवाव्याप्यवृत्तितामादाय मिथ्यात्वा-
नुमानेऽर्थान्तरवारणात् ॥६॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

वर्तमानार्थलक्ष्यप्रत्ययप्रयुक्तत्वात् वर्तमानकालावच्छेदेन द्वैतविशिष्टे ब्रह्मणि अस्तित्वविशिष्टस्य द्वैताभावस्य बोधनात् । "द्वितीय पक्ष को स्पष्ट करने के लिए लघुचन्द्रिका में अन्वय इस प्रकार से होगा—“उक्त वाक्येन द्वैतविशिष्ट ब्रह्मरूपोद्देश्यार्थकेहपदप्रयुक्तत्वात् द्वैतविशिष्टे ब्रह्मणि अस्तित्वविशिष्टस्य द्वैताभावबोधनात् ।” द्वैतवद्ब्रह्म में द्वैताभाव का किस कालावच्छेदेन बोधन होता है? इसमें द्वितीय समाधान दे रहे हैं। प्रथम समाधान में यह अरुचि है कि जिस मत में अत्यन्ताभाव अपने आश्रय में त्रैकालिकत्वेन रहता है, न कि किसी कालविशेषावच्छेदेन। उस मत से द्वैताभाव का बोधन वर्तमानकालावच्छेदेन भी नहीं हो सकता और द्वैतवत्त्वकालावच्छेदेन भी नहीं हो सकता अपितु त्रैकालिकावच्छेदेन द्वैताभाव का बोधन होगा। इस अरुचि को ध्यान में रखकर कह रहे हैं कि जिस मत में मिथ्यात्व का घटक अत्यन्ताभाव को अवच्छिन्नवृत्तिकाभाव—अन्यत्व अर्थात् निरवच्छिन्नवृत्तिक (त्रैकालिक) माना जाता है। उस मत के अनुसार द्वैतवद्ब्रह्म में निरवच्छिन्नरूप विशेषण से विशिष्ट द्वैताभाव (द्वैत के त्रैकालिक अत्यन्ताभाव) की वृत्तिताका बोध उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा हो जाने से द्वैतगतमिथ्यात्व की सिद्धि हो जायेगी। इस प्रकार महावाक्यों से जन्य अद्वैतनिश्चय में भी द्वैतगतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्व सिद्ध हो गया। यहां पर प्रश्न होता है कि द्वैताभाव (द्वैत के अत्यन्ताभाव) का विशेषण निरवच्छिन्नत्व क्यों दिया गया? इसका उत्तर यह है कि यदि मिथ्या का लक्षण—“स्वसमानाधिकरणा—भावप्रतियोगी” किया जाता तब बद्ध काल में द्वैत जिस आत्मा में है, उसी आत्मा में मोक्षकाल में द्वैताभाव है। इस प्रकार से कपिसंयोगादि के समान द्वैतप्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध न होकर अव्याप्यवृत्तित्व सिद्ध होने से अर्थान्तर की सिद्धि होती। अतः प्रतियोगिसमानाधिकरण के साथ—साथ निरवच्छिन्न विशेषणता सम्बन्धावच्छिन्नत्व को भी अत्यन्ताभाव के विशेषण के रूप से दिया गया। अब पूर्वपक्षी अवच्छिन्नवृत्तिकाभाव को लेकर अर्थान्तर दोष नहीं दे सकता है, क्योंकि अब अभाव का विशेषण निरवच्छिन्न देने से द्वैताभाव जो लिया जायेगा वह त्रैकालिक होगा। जो त्रैकालिक होता है, उसके विषय में “वह एक काल में है और दूसरे काल में नहीं है,” ऐसा प्रश्न ही नहीं होता। अतः अर्थान्तर दोष की आपत्ति नहीं आ सकती। इसी प्रकार प्रतियोगिसमानाधिकरण नहीं देने पर तो प्रतियोगी जिस अधिकरण में है, उससे भिन्न अधिकरण में प्रतियोगी का त्रैकालिकात्यन्ताभाव रहता है। इस प्रकार से अर्थान्तर होता। अतः त्रैकालिकात्यन्ताभाव का विशेषण प्रतियोगिसमानाधिकरण दिया गया। इस प्रकार से मिथ्यात्व का लक्षण होगा—निरवच्छिन्नविशेषणतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगि—समानाधिकरणकत्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् ॥६॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि जहां पर दो अथवा उससे अधिक पदों को समास के द्वारा

लघुचन्द्रिका

‘एकप्रसरताभङ्गापत्त्या ‘ब्रह्मणि’ इत्येकपदस्य ब्रह्माधेयत्वयोरुद्देश्यविधेययोरन्वया—
बोधकत्वेऽपि ‘ब्रह्मणि’ इत्यनेन ब्रह्मनिरूपितत्वरूपस्योद्देश्यस्यैवास्तीत्यनेनाधेयत्वाश्रयत्वरूप—
विधेयस्यैव समर्पणेन ब्रह्मनिरूपिताधेयत्वे तद्देशाद्यवच्छिन्नत्वलाभात्, “यस्मिन्पञ्च पञ्च जना

सत्यानन्दप्रबोधिका

एक पद बनाया गया हो, वहां पर समस्त पद के द्वारा एकप्रसरता=एकार्थबोधकता मानी जाती है। (एकप्रसरता का लक्षण इस प्रकार है—उद्देश्यविधेयभावाऽनापन्नविशिष्टैक—कार्योपस्थितिजनकत्वम्। अथवा—एकार्थबोधकत्वरूपशब्दनिष्ठसामर्थ्यमेकप्रसरत्वम्।) परन्तु यदि समास करने के पश्चात् समस्यमान पद को अलग करके उनमें से एक भाग का अन्वय उद्देश्य कोटि के साथ और दूसरे भाग का अन्वय विधेय कोटि के साथ किया जाय, तब एक प्रसरता का नियम भङ्ग हो जाता है। इसी प्रकार सुबन्ततिङन्त घटक प्रकृति और प्रत्यय के अर्थों में से एक अर्थ को उद्देश्यकोटि के साथ और दूसरे अर्थ को विधेय कोटि के साथ अन्वय करने पर एकप्रसरता का नियम भङ्ग हो जाता है। जो कि विद्वानों को मान्य नहीं है। जैसे कि पूर्वमीमांसा दर्शन के “वषट्काराच्च भक्षयेत्” (जै.सू.३.५.३१) में कहा है—“वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः”। इस वाक्य के द्वारा वषट्कार (होता) के उद्देश्य से प्राथम्यविशिष्टभक्षण का विधान किया गया है, इसलिए इस वाक्य को अपूर्वविधि का विधापक वाक्य माना जाता है। यहां पर भक्षण के उद्देश्य से प्राथम्यमात्र का विधान नहीं किया गया है, क्योंकि “प्रथमभक्षः” इस एक पद के एक भाग को उद्देश्य और दूसरे भाग को विधेय मानने की आपत्ति होती। प्रकृत में “इह” पद का अर्थ = ब्रह्मणि = ब्रह्मनिरूपित आधेयता। इसका एक भाग जो ब्रह्म है, उसका अन्वय उद्देश्यकोटि के साथ किया जा रहा है और दूसरे भाग = आधेयता का अन्वय विधेय (द्वैतात्यन्ताभाव) के साथ किया जा रहा है। अतः यहां पर एकप्रसरता भङ्ग रूप दोष की आपत्ति होगी। इसलिये उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा द्वैताभावगत ब्रह्मनिरूपित आधेयता में द्वैतकालावच्छिन्नत्व का भान नहीं हो सकता है। इसके समाधान में लघुचन्द्रिकाकार कह रहे हैं कि एकप्रसरता भङ्ग की आपत्ति के कारण “इह” इस “सप्तम्यन्त” पद में प्रकृत्यर्थ ब्रह्म को उद्देश्य और प्रत्ययार्थ आधेयत्व को विधेय मानकर अन्वयबोध न होने पर भी “इह” पद का जो अर्थ है “ब्रह्मणि” उसका अर्थ करेंगे = ब्रह्मनिरूपितत्व। यहां पर सप्तमी विभक्ति का अर्थ निरूपितत्व किया गया है। इस प्रकार “इह” पद के द्वारा केवल ब्रह्मनिरूपितत्वरूप उद्देश्य का समर्पण होगा और “अस्ति” पद के द्वारा द्वैताभावनिष्ठाधेयत्वाश्रयत्व रूप अर्थ का समर्पण होता है और वही विधेय है। (“अस्ति” इस पद में प्रकृति का अर्थ है—आधेयता और प्रत्यय का अर्थ है—आश्रयता) इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक देशकालावच्छिन्न विधेय होता है— इस नियम के आधार पर ब्रह्मनिरूपित द्वैताभावनिष्ठाधेयता में उद्देश्यतावच्छेदक देशकालावच्छिन्नत्व का भान हो जायेगा। अतः “द्वैतवद्ब्रह्मनिरूपितद्वैतवत्त्वदेशकालावच्छिन्नाधेयताश्रयीभूतो द्वैताभावः” इस प्रकार शाब्दबोध हो जाने से द्वैतगतमिथ्यात्व की सिद्धि हो जायेगी। अत्यन्तभाव को त्रैकालिक न मानने वालों के पक्ष में समाधान दिया गया और अत्यन्ताभाव को त्रैकालिक मानने पर “द्वैतवद्ब्रह्मनिरूपितनिरवच्छिन्नविशेषणतासम्बन्धावच्छिन्नाधेयताश्रयीभूतो द्वैताभावः” ऐसा

लघुचन्द्रिका

आकाशश्च प्रतिष्ठितः” इति वाक्ये “प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः” इत्यादिवाक्ये चाकाश-
शब्दिताव्याकृतप्राणादिसम्बन्धितया पूर्व ब्रह्मण उक्तत्वात् पञ्चजनशब्दस्य गन्धर्वादिरूपस्य
ब्राह्मणादिरूपस्य वा भाष्योक्तार्थस्य “यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च” इति वाक्ये ब्रह्मक्षत्रपदयोरिव
सर्वदृश्योपलक्षणत्वेन ‘प्राणस्य’ इत्यादेरपि सर्वदृश्योपलक्षणत्वेन सर्वदृश्यसम्बन्धित्वेनैव ब्रह्मणः
पूर्वमुक्तत्वाच्चाद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वपूर्वकत्वम् ॥७॥

नच—‘नाना’ इत्यस्य नञ्पदनिष्पन्नत्वेन भेदार्थकतया स्वसमभिव्याहृतपदार्थब्रह्मभेद—

सत्यानन्दप्रबोधिका

बोध होगा। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि “इदमो हः” (पा.सू. ५.३.११) से “इह” पद
बना है। अतः सर्वनाम है। सर्वनाम पूर्व का परामर्शी होता है। यहां पर “इह” का अर्थ
“द्वैतवद्ब्रह्मनिरूपितत्व” किया गया है। किन्तु “द्वैतवद्ब्रह्म” का वर्णन ‘नेह नानास्ति
किञ्चन’ इस श्रुति के पहले नहीं किया गया था। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह
रहे हैं कि “नेह नानास्ति किञ्चन” (बृ.उ.४.४.१९) इस श्रुति वाक्य से पहले “यस्मिन् पञ्च
पञ्च जना आकाशश्च प्रतिष्ठितः” (बृ.उ.४.४.१७) और “प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः” (बृ.
उ. ४.४.१८) इत्यादि श्रुति वाक्यों में क्रमशः आकाश शब्द वाच्य जो अव्याकृत माया है,
उसका सम्बन्धी (अधिष्ठान रूप से) ब्रह्म ही उक्त है और प्राणादिशब्द वाच्य प्राणचक्षुरित्यादि
के सम्बन्धी (अधिष्ठान) के रूप से ब्रह्म ही उक्त है। इस पर प्रश्न होता है कि उक्त श्रुति
वाक्यों के द्वारा ब्रह्म उक्त होने पर भी, उक्त श्रुति वाक्यों के द्वारा द्वैतवद्ब्रह्म (सर्वदृश्यतादात्म्यवत्
ब्रह्म) उक्त नहीं है? अतः “इह” पद के द्वारा ब्रह्म का ही ग्रहण हो सकता है द्वैतवद्ब्रह्म
का नहीं। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त श्रुतिवाक्य में आया हुआ पञ्चन्
शब्द भाष्योक्त गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और
निषाद इन पांच पदार्थों के माध्यम से पञ्चनशब्द सर्वदृश्य का उपलक्षक है। जैसे कि “यस्य
ब्रह्म च क्षत्रं च” (क.उ.१.२.२५) इस श्रुति वाक्य में आये हुए ब्रह्म और क्षत्र पद सर्वदृश्य
के उपलक्षक है। इस प्रकार आकाशादि से ब्रह्म की उपस्थिति होने से और पञ्चन् इत्यादि
के द्वारा द्वैतमात्र की उपस्थिति होने से द्वैतवद्ब्रह्म (सर्वदृश्यतादात्म्यवत् ब्रह्म) पहले से ही उक्त
होने के कारण “नेह नानास्ति किञ्चन” यहां पर “इह” पद के द्वारा बोधित हो ही सकता
है। जिस प्रकार “पञ्च पञ्चजनाः” शब्द सर्वदृश्य का उपलक्षक है, उसी प्रकार “प्राणस्य”
इत्यादि भी सर्वदृश्य के उपलक्षक हैं। अतः “प्राणस्य” इत्यादि वाक्यों के द्वारा भी द्वैतावद्ब्रह्म
पहले से ही उक्त होने के कारण “नेह नानास्ति किञ्चन” इस वाक्य के घटक “इह” पद के
द्वारा गृहीत हो ही सकता है। इस प्रकार यह व्याप्ति सुस्थिर हो गयी—“यत्र यत्र अद्वैतनिश्चयः
तत्र तत्र द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वम्” ॥७॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि “नेह नानास्ति किञ्चन” इस श्रुतिवाक्य में स्थित “नाना”
पद की व्युत्पत्ति व्याकरण के अनुसार इस प्रकार से होती है—“विनञ्भ्यां नानाजौ नसह”
(पा. सू. ५.२.२७) इस सूत्र से नसह=साथ नहीं अर्थात् पृथग्भाव (पृथक्त्व) इस अर्थ में वर्तमान
जो वि और नञ् शब्द उनसे क्रमशः ना तथा नाञ् प्रत्यय होते हैं। जब नञ् शब्द से नाञ्

लघुचन्द्रिका

बोधकतया तादृशभेदविष्टिस्य 'किञ्चन' इतिपदार्थस्यात्यन्ताभावे द्वैतवत्त्वदेशकालावच्छिन्नत्वस्य भानं न व्युत्पत्तिसिद्धम्, उद्देश्यतावच्छेदकतत्तद्देशकालावच्छिन्नत्वयोस्तत्तद्देशकालादिविशिष्टो-
द्देश्यस्थल एव भानादिति—वाच्यम्॥८॥

तादृशाभावे तादृशावच्छिन्नब्रह्मवृत्तित्वबोधेऽप्युद्देश्यसिद्धेः। नहि तत्र तत्केनापि स्वीक्रियते।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रत्यय करने के पश्चात् "तद्विषयत्वामादेः" (पा. सू. ७.२.११७) से आदि अच् को वृद्धि कर नाना शब्द बनता है, तब उसका अर्थ होता है—भेद। अब किसका भेद लेना है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि नञ् का यह स्वभाव होता है कि वह स्वसमभिव्याहृत पद से उपस्थापित पदार्थ के भेद का बोधन करता है। अतः "नेह नानास्ति किञ्चन" में नाना पद से पूर्व में उपस्थित "इह" पद से बोधित ब्रह्म के भेद का बोधक नाना पद होगा। वह ब्रह्मभेद ब्रह्म से भिन्न सर्ववस्तु में रहेगा। वह ब्रह्मभिन्नसर्ववस्तु किञ्चन पद से बोधित है। "नेह नाना." में "न" का अर्थ अत्यन्ताभाव लेना है। अतः पूरे वाक्य का अर्थ हुआ—द्वैतवद्ब्रह्म ब्रह्मभिन्नसर्वात्यन्ताभाववत्। अतः ब्रह्मभेद विशिष्ट किञ्चन पद वाच्य वस्तु सामान्य के अत्यन्ताभाव में द्वैतवत्त्वदेश और काल से अवच्छिन्नत्व का भान उक्त औत्सर्गिक नियम के आधार पर सिद्ध नहीं हो पायेगा। इसमें हेतु देते हुए कह रहे हैं कि उद्देश्यतावच्छेदक तद्देश से अवच्छिन्नत्व और तत्काल से अवच्छिन्नत्व का तद्देशविशिष्ट और तत्कालविशिष्ट उद्देश्य के स्थल में ही विधेयनिष्ठत्वेन भान होता है। जैसे "शाखाविशिष्टवृक्षे कपिसंयोगः।" यहां पर शाखादेशकालावच्छिन्नत्व का भान कपिसंयोग में होगा। अर्थात् वृक्ष के जिस देश में शाखा है और वृक्ष में जिस काल में शाखा है, उसी देश काल में कपिसंयोग वृक्ष में रहता है। प्रकृत में विधेय ब्रह्मभेदविशिष्टद्वैताभावनिष्ठवृत्तित्व। उसमें यदि उद्देश्यतावच्छेदक=द्वैतवत्त्वदेशकालावच्छिन्नत्व भासता है, तब तो विधेय का विशेषण जो ब्रह्मभेद उसमें भी द्वैतवत्त्वदेशकालावच्छिन्नत्व भासेगा। तब उसका अर्थ होगा कि द्वैत जिस देश काल में रहता है उसी देश काल में ब्रह्मभेद रहता है। द्वैत का देश ब्रह्म है। अतः ब्रह्म में ब्रह्मभेद रह जायेगा। ऐसा होने पर ब्रह्म में ब्रह्मभेद रहता है अर्थात् ब्रह्म, ब्रह्म से भिन्न है—यह अर्थ बोध होगा, किन्तु यह ज्ञान आहार्यज्ञान है, जो शब्द से होता नहीं है। पूर्वोक्त प्रकार से विशेषण (ब्रह्मभेद) में बाधदोष होने के कारण ब्रह्मभेद से विशिष्ट में भी बाधदोष होगा। यही उक्त औत्सर्गिक नियम को मानने में बाध है। इसलिये इस बाध दोष के रहने से उक्त औत्सर्गिक नियम को प्रकृत में माना नहीं जा सकता है। अतः उद्देश्यतावच्छेदक देश काल से अवच्छिन्न विधेय सिद्ध नहीं होगा। तब तो द्वैतवद्ब्रह्म में द्वैतदेशकालावच्छेदेन उक्त द्वैतात्यन्ताभाव (ब्रह्मभिन्नसर्वात्यन्ताभाव) सिद्ध न होने के कारण द्वैतगत मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो पायेगा॥८॥

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से बाध दोष होने के कारण उक्त औत्सर्गिक नियम को न मानने पर भी "नेह नानास्ति किञ्चन" इस श्रुति वाक्य से "द्वैतवद्ब्रह्मणि ब्रह्मभिन्नसर्वाभावः" का बोध होता ही है। ऐसा होने मात्र से भी हमारा उद्देश्य (महावाक्यजन्य अद्वैतसिद्धि के पहले द्वैतगत मिथ्यात्व) सम्पन्न हो जाता है। इसमें हेतु देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि द्वैताभाव में द्वैतकालावच्छिन्न द्वैतवद्ब्रह्मनिरूपितवृत्तित्व को कोई भी द्वैतपरमार्थवादी नहीं मानते हैं। अर्थात् द्वैत को सत्य मानने वालों के मत में

लघुचन्द्रिका

प्रलयेऽपि तादृशाभावे तार्किकादिभिस्तदस्वीकारात्, मिथ्यात्ववादिनैव तत्स्वीकारात् । ॥९॥

वस्तुतस्तु—ब्रह्मभेदो न प्रतियोगितावच्छेदकतया भाति, किन्तुपलक्षणतया किञ्चनपदार्थे प्रकारः। तथा च तत्पदस्य सर्वनामतया प्रसिद्धार्थतया प्रत्यक्षादिमानसिद्धद्रव्यत्वादिविशिष्टबोधकत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

द्वैतवद्ब्रह्म में द्वैतकालावच्छेदेन द्वैत का सामान्याभाव होता ही नहीं है। प्रलयकाल में भी द्वैतसामान्याभाव में द्वैतकालावच्छेदेन द्वैतवद्ब्रह्मनिरूपितवृत्तित्व को नैयायिकादि लोग नहीं मानते हैं, क्योंकि आकाशादि को नित्य मानने के कारण उनके मत में भी द्वैत का सामान्याभाव होता ही नहीं है। अतः उनके मत में द्वैतसामान्याभाव में द्वैतवद्ब्रह्मनिरूपितवृत्तित्व मानना सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि द्वैतवद्ब्रह्म में द्वैताभाव को नैयायिकादि सृष्टिकाल में भी नहीं मानते हैं और प्रलयकाल में भी नहीं मानते हैं। केवल द्वैतमिथ्यात्ववादी ही द्वैतसामान्याभाव में द्वैतकालावच्छेदेन द्वैतवद्ब्रह्मनिरूपितवृत्तित्व को मानते हैं। ऐसा मानने से ही द्वैतगतमिथ्यात्व की सिद्धि हो जायेगी ॥९॥

खण्ड संख्या अष्टम में उठायी गयी शङ्का का एक समाधान खण्ड संख्या नवम में दिया गया। अब उक्त शङ्का का दूसरा समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि वस्तुतस्तु “द्वैतवद्ब्रह्म ब्रह्मभेदविशिष्टसर्वाभाववत्” यहां पर प्रतियोगी है— ब्रह्मभेदविशिष्टसर्व, प्रतियोगितावच्छेदक=ब्रह्मभेद। यहां पर प्रतियोगी ब्रह्मभेदविशिष्ट सर्व जो की किञ्चन पद का अर्थ है और उस प्रतियोगी में प्रकार (प्रतियोगितावच्छेदक) ब्रह्मभेद है। प्रकार दो प्रकार का होता है। एक तो विशेषण और दूसरा उपलक्षण। यहां पर ब्रह्मभेद जो प्रतियोगी में प्रकार बनता है वह विशेषण के रूप से प्रकार नहीं बनता है, किन्तु उपलक्षण के रूप से प्रकार बनता है। इससे सिद्धान्ती को यह लाभ हुआ कि पूर्वपक्षी ने अष्टम खण्ड में जो दोष दिया कि “द्वैतवद्ब्रह्म ब्रह्मभेदविशिष्टसर्वाभाववत्” में उक्त औत्सर्गिक नियम के बल पर विधेय में उद्देश्यतावच्छेदक देशकालावच्छिन्नत्व भासता है। अतः विशिष्ट में भासने वाला धर्म विशेषण में भी भासता है। इसके बल पर द्वैतवत्त्वकालावच्छिन्नत्व यह धर्म विधेय के विशेषण ब्रह्मभेद में भी भासेगा, तब ब्रह्म में ब्रह्म का भेद भासने से आहार्यज्ञान होगा जो कि शब्द से माना नहीं जाता। अब ब्रह्मभेद को विधेय का विशेषण न मानने के कारण (किन्तु उपलक्षण मानने के कारण) उक्त दोष नहीं होगा, क्योंकि उपलक्षित में रहने वाला धर्म उपलक्षण में भासता नहीं है। जैसे काकोपलक्षितगृह में रहने वाला धर्म उत्तुणत्वादि काकरूप उपलक्षण में भासित नहीं होते हैं। अतः ब्रह्मभेद से उपलक्षित द्वैतात्यन्ताभाव में भासित होने वाला धर्म ब्रह्मभेद में भासित नहीं होगा। अतः ब्रह्मभेद को छोड़कर शेषभाग जो द्वैतात्यन्ताभाव है। वह उद्देश्यतावच्छेदक देशकालावच्छिन्न हो जायेगा। इस प्रकार से द्वैतगतमिथ्यात्व की सिद्धि हो जाने से “यत्र यत्र अद्वैतसिद्धिः तत्र तत्र द्वैतमिथ्यात्वसिद्धि— पूर्वकत्वम्” यह व्याप्ति निर्दुष्ट सिद्ध हो गयी। खण्ड संख्या अष्टम में पूर्वपक्षी ने आहार्यज्ञान की आपत्ति दिया था। उसको वारण करने के लिए कह रहे हैं कि “किञ्चन” पद का घटकीभूत “किम्” शब्द सर्वनाम होने के कारण प्रसिद्धार्थक है। इसलिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा सिद्ध द्रव्यत्वादिविशिष्टद्रव्यादि का बोधक है। अर्थात् सर्वनाम प्रमाणान्तर से प्रसिद्ध अर्थ का ही बोधक होता है। द्रव्यत्व—गुणत्वादिविशिष्टद्रव्यगुणादि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रसिद्ध ही है। अतः विधेय का

लघुचन्द्रिका

प्रसिद्धार्थकत्वात् प्रकृत्यन्तार्थकत्वाद्वा 'इह' पदेन घटत्वादिविशिष्टवद्ब्रह्मबोधनात्, द्रव्यत्वादिविशेष-
रूपेणैव मिथ्यात्वलाभः। घटवद् द्रव्यवदित्येवमुद्देश्यतावच्छेदकभावेऽपि 'द्रव्यं नास्ति'
इत्यादिविधेयांशे घटत्वादिविशिष्टस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वेन द्रव्यत्वादिविशिष्टाभावज्ञानस्य
नाहार्यत्वापत्तिरिति भावः। १०॥

वादः-तत्त्वबुभुत्सुना सह कथा। जल्पः- विजिगीषुणा सह। वितण्डा-स्वपक्षस्थापनहीना।
कथा-पञ्चावयवपरिकरोपेतवाक्यम् ११॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

आकार होगा— ब्रह्मभेदोपलक्षितद्रव्यत्वादिविशिष्टाभावावृत्तित्वम्। उद्देश्य का आकार कैसा होगा? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि "इह" पद सर्वनाम होने के कारण प्रसिद्धार्थक या प्रकृतपदार्थवाचक होने के कारण घटत्वादिविशिष्टघटादिवद्ब्रह्म का बोधक है। इसलिए "ब्रह्मभेदोपलक्षितद्रव्यत्वविशिष्टाभावो घटत्वविशिष्टवद्ब्रह्मवृत्तिः" इस प्रकार से द्रव्यत्वादिविशेषरूपेण भी मिथ्यात्व की सिद्धि हो जाती है। प्रश्न होता है कि "इह" पद सर्वनाम होने के कारण प्रसिद्धार्थक का बोधक है। अतः घट जैसे प्रसिद्ध है वैसे ही प्रत्याक्षादि प्रमाणों से द्रव्यादि भी प्रसिद्ध है। पहले "किम्" सर्वनाम से द्रव्यादि लिया भी गया है। अतः यहां पर भी "इह" पद से द्रव्यादि क्यों नहीं लिया गया? इसका समाधान यह है कि यदि "इह" और "किम्" दोनों पदों से द्रव्यादि को ग्रहण करते, तब तो "नेह नानास्ति....." इस श्रुति वाक्य का अर्थ होता — "द्रव्यवद्ब्रह्मणि द्रव्यं नास्ति" ऐसे ज्ञान को आहार्यज्ञान कहा जाता है जो कि शब्द से होता नहीं है। इसलिए "इह" और "किम्" के अर्थ को मिलाकर "नेह नानास्ति किञ्चन" इस श्रुति वाक्य का "घटवत् ब्रह्मणि द्रव्यं नास्ति" ऐसा अर्थ किया गया। ऐसा अर्थ करने पर आहार्यज्ञान की आपत्ति नहीं आयेगी। इसी को स्पष्ट करते हुए लघुचन्द्रिकाकार ने कहा कि "घटवति ब्रह्मणि द्रव्यं नास्ति" "द्रव्यवति ब्रह्मणि जातिमान् नास्ति" इत्यादि सम्मूहालम्बनात्मक बोधों में उद्देश्यतावच्छेदक घटवत्त्व, द्रव्यवत्त्व की ही जो प्रतीति होती है। उसी उद्देश्यतावच्छेदक की प्रतीति "द्रव्यं नास्ति" "जातिमान् नास्ति" इस प्रकार द्रव्याभाव, जात्यभाव इत्यादि विधेयांश में होती है। अतः आहार्यत्व की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि यहां पर उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय में शब्दतः भावाभावरूपता प्रतिपादित नहीं है। १०॥

तत्त्वजिज्ञासु के साथ होने वाली कथा को वाद कथा कहते हैं। इसका पर्यवसान तत्त्वनिर्णय में होता है। विजिगीषुओं (विजयाभिलाषी व्यक्तियों) के साथ जो कथा होती है। उसे जल्प कथा कहते हैं। इसका पर्यवसान विजय और निग्रह में होता है और स्वपक्षस्थापन से रहित परपक्षखण्डनात्मिका कथा को वितण्डा कथा कहते हैं। इसका पर्यवसान परपक्ष के खण्डन मात्र में होता है। पञ्चावयवसहकारियुक्त वाक्यात्मिका कथा होती है। अर्थात् कथा उस वाक्यावली का नाम है जिसमें प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनयन और निगमन रूप पञ्च अवयवों से युक्त अनुमानादि प्रमाण और सत्तर्क निहित होते हैं। ११॥

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां द्वैतमिथ्यात्वोपपादनम्

विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य विचाराङ्गत्वे पूर्वपक्षः

तत्र च विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य विचाराङ्गत्वान्मध्यस्थेनादौ विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीया। यद्यपि विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य न पक्षतासम्पादकतयोपयोगः। सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकमाना-
भावरूपायास्तस्याः संशयाघटितत्वात्। अन्यथा श्रुत्यात्मनिश्चयवतोऽनुमित्तया तदनुमानं न स्यात्,

लघुचन्द्रिका

सिषाधयिषेत्यादि। सिषाधयिषाऽभावसामानाधिकरण्यविशिष्टस्य साध्यनिश्चयस्याभाव-
रूपाया इत्यर्थः। १२ ॥

संशयस्य=संशयहेतुत्वस्वीकारस्य। अतिप्रसज्जकत्वात्=आहार्यपरामर्शादेर्हेतुत्वा-

सत्यानन्दप्रबोधिका

अद्वैतसिद्धि में अद्वैतसिद्धिकार ने पक्षता का लक्षण किया—“सिषाधयिषाविरहसहकृत-
साधकमानाभावरूपता”। इसका अर्थ लघुचन्द्रिकाकार ने किया— “सिषाधयिषाऽभावसामानाधि-
करण्यविशिष्टस्य साध्यनिश्चयस्याभावरूपायाः”। पक्षता के इस लक्षण का घटक सिषाधयिषा
शब्द स्वादिगणीय साध संसिद्धौ, धातु से णिच् और सन् प्रत्यय करके बना है। इसका अर्थ
है—अनुमिप्ता (अनुमिति की इच्छा)। मूलस्थ सिषाधयिषाविरह का अर्थ किया गया= सिषाधयिषाभाव।
सहकृत का अर्थ किया गया= सामानाधिकरण्यविशिष्ट=समानाधिकरण=एकाधिकरणवृत्ति। मूलस्थ
साधकमान का अर्थ किया गया=साध्यनिश्चय। अर्थात् साध्यनिश्चय कैसा हो? इसके उत्तर
में कहा— सिषाधयिषाभाव जिस अधिकरण में हो, उसमें रहने वाला हो, ऐसे साध्यनिश्चय
के अभाव को पक्षता कहा जाता है। उक्त प्रकार के साध्यनिश्चय का अभाव विशिष्टाभावरूप
होता है। यहां पर विशेषण = सिषाधयिषाविरह, विशेष्य =साध्यनिश्चय। अतः कहीं पर
विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव, कहीं पर विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव और कहीं पर
उभयाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव को लेकर लक्षण समन्वय होगा। जैसे जहां सिषाधयिषा और
साध्यनिश्चय है और जहां सिषाधयिषा नहीं है और साध्यनिश्चय भी नहीं है तथा जहां
सिषाधयिषा है और साध्यनिश्चय नहीं है, वहां क्रम से विशेषणाभाव, विशेष्याभाव और
उभयाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव मिल जाने से उक्त तीनों स्थलों पर लक्षण समन्वय हो
जायेगा। १२ ॥

अद्वैतसिद्धि में जो अद्वैतसिद्धिकार ने कहा कि— आहार्यसंशयस्यातिप्रसज्जकत्वात्। इस
वाक्य में आये हुए “संशयस्य” पद का अर्थ है—आहार्यसंशयनिष्ठस्यानुमितिहेतुत्वस्वीकारस्य।
अतः पूरे वाक्य का अर्थ होगा—“आहार्यसंशयनिष्ठस्यानुमितिहेतुत्वस्वीकारस्यातिप्रसज्जकत्वात्।”
आहार्यसंशय अर्थात्— आहार्यसंशयनिष्ठ अनुमितिहेतुत्व को स्वीकार करने पर अतिप्रसाक्ति
होगी। क्या अतिप्रसाक्ति होगी? इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया कि आहार्यपरामर्शादि को
भी अनुमिति का हेतु मानना पड़ेगा। यद्यपि आहार्यसंशय सभी मानते हैं और उससे अनुमिति
भी होते हुए देखी जाती है। जैसे शिष्य की परीक्षा लेने के लिए गुरुजी किसी विषय पर
विभिन्न संशय पैदा करके शिष्य को उसका समाधान करने के लिए कहते हैं। यहां पर गुरुजी
के मन में वास्तविक संशय है, ऐसी बात नहीं किन्तु आहार्यसंशय है और उसके द्वारा
शिष्य के बुद्धिगत पाण्डित्य की अनुमिति हो जाती है, तथापि पूर्वपक्षी का कथन है कि
उक्त स्थल पर भी आहार्यसंशय अनुमिति का हेतु नहीं है, किन्तु सिषाधयिषाविरहसह-

वाद्यादीनां निश्चयवत्त्वेन संशयासम्भवादाहार्यसंशयस्यातिप्रसङ्गकत्वाच्च । नापि विप्रतिपत्तेः स्वरूपत एव पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहफलकतयोपयोगः । 'त्वयेदं साधनीयम्,' 'अनेनेदं दूषणीयम्' इत्यादि—मध्यस्थवाक्यादेव तल्लाभेन विप्रतिपत्तिवैयर्थ्यात् ।

लघुचन्द्रिका

पादकत्वात् ॥२॥

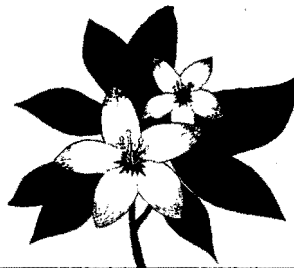
पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेति । पक्षे धर्मिणि प्रतिनियतपक्षपरिग्रहेत्यर्थः । वादिनोर्भावाभावान्य—तरकोटरेकधर्मिणि प्रयोगेति यावत् ॥३॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

कृतसाधकमानाभावरूपा पक्षता से घटित परामर्श ही उक्त अनुमिति का हेतु है, क्योंकि आहार्यसंशय को अनुमिति के प्रति हेतु मानने पर आहार्यपरामर्श को भी अनुमिति के प्रति हेतु इस तर्क (आहार्यत्वं यद्यनुमितिजनकज्ञानवृत्तिः स्यात्, तदानुमितिजनकपरामर्शवृत्तिः स्याज्ज्ञानत्ववत्) के बल पर मानना पड़ेगा, जो कि कोई भी मानता नहीं है, क्योंकि आहार्यपरामर्श तो असद् हेतु स्थल पर भी हो सकता है। जैसे कोई व्यक्ति जानता है कि वह्नि धूम का व्याप्य नहीं है तब भी उसको 'धूमव्याप्यवह्निमान् अयं पर्वतः' इस प्रकार आहार्यपरामर्श हो ही सकता है और उससे वह्नि की अनुमिति होने की आपत्ति होगी ॥२॥

मूलस्थ "पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहफलकतयोपयोगः" का घटक पक्षप्रतिपक्ष का प्रसिद्ध भावकोटि और अभावकोटि अर्थ करने पर कथा ही प्रारम्भ नहीं हो सकती है क्योंकि एक धर्मी में भावकोटि को रखा और दूसरे धर्मी में अभावकोटि को रखा। भिन्न—भिन्न धर्मी होने के कारण संशयादि ही नहीं होगा। अतः संशयादि की निवृत्ति के लिए कथा ही प्रारम्भ नहीं हो पायेगी। इसलिए लघुचन्द्रिकाकार ने "पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः" का अर्थ किया— पक्षे प्रतिपक्षस्य परिग्रहः। जहां पर "प्रपञ्चो मिथ्या न वा?" यह विप्रतिपत्तिवाक्य है। वहां पर "पक्षे" का अर्थ है—प्रपञ्चरूप धर्मी में, प्रतिपक्ष का अर्थ किया गया— प्रतिनियतपक्ष। अर्थात् वादी का नियत पक्ष मिथ्यात्व और प्रतिवादी का नियत पक्ष मिथ्यात्वाभाव। इस प्रकार से एक ही प्रपञ्चरूप धर्मी में मिथ्यात्व और मिथ्यात्वाभावरूप दोनों कोटियों का क्रमशः वादी और प्रतिवादी के द्वारा प्रयोग पर्यवसित होने पर कथा हो ही सकती है ॥३॥

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य विचाराङ्गत्वे पूर्वपक्षः



विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य विचाराङ्गत्वे सिद्धान्तपक्षः

तथापि विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्यानुमित्यनङ्गत्वेऽपि व्युदसनीयता विचाराङ्गत्वमस्त्येव।

लघुचन्द्रिका

तथापि—‘अनुमित्यनङ्गत्वेऽपीति। अनुमितिं प्रति तथाविधमेव यदङ्गत्वम्, तदभावेऽपीत्यर्थः। प्रथमस्यापिशब्दस्यैवकारसमानार्थकत्वात्; यद्यपीत्यस्य पूर्वं सत्त्वात्तथापीत्यन्यदध्याहार्यम्। एकेनैव वा तथापीत्यनेनार्थद्वयबोधः। अथवा—अङ्गत्वपदस्य पूर्वशङ्कितानङ्गत्वमर्थः। व्युदसनीयतया=विचार—

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि मूल में “अनुमित्यनङ्गत्वेऽपि” पहले कहा गया, उसके पश्चात् “विचाराङ्गत्वमस्त्येव” कहा गया। विचार का अङ्ग होने पर अनुमिति का भी अङ्ग हो जायेगा, तब तो अर्थ होगा कि अनुमिति का अङ्ग न होने पर भी अनुमिति का अङ्ग है। किन्तु ऐसा कथन परस्पर विरुद्ध है। इसके समाधान में लघुचन्द्रिकाकार कह रहे हैं कि मूलस्थ “तथापि” का अर्थ “तथाविधमेव” है। ऐसा अर्थ करने से संशय अनुमिति का अङ्ग न होने पर भी अनुमिति का अङ्ग है—इस प्रकार जो असङ्गति हो रही थी, वह अब नहीं होगी क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त जो दो प्रकार (पक्ष सम्पादकता के रूप से और पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहफलक के रूप से) है, उन दोनों प्रकारों के रूप से संशय को अनुमिति का अङ्ग हम भी नहीं मानते हैं किन्तु वह संशय “व्युदसनीयतया” अनुमिति का अङ्ग है। मूलस्थ “तथापि” पद का “तथाविधमेव” यह अर्थ कैसे निकलता है। उसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि मूल में दो बार “अपि” शब्द आया है। प्रथम “तथापि” में और द्वितीय “अनङ्गत्वेऽपि” में। उसमें से प्रथम “अपि” शब्द एवकारार्थक है। द्वितीय “अपि” शब्द समुच्चयार्थक है। अर्थात् पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त दोनों प्रकारों के रूप से अनुमिति का अनङ्गत्व के सहित व्युदसनीयतया विचार का अङ्गत्व संशय में है। “तथापि” का घटक “तथा” का अर्थ है—तथाविधम्। इसलिए “तथापि” का अर्थ हो गया = तथाविधमेव। “तथापि” का अर्थ “तथाविधमेव” कर देने पर पूर्वपक्षी के वाक्य में प्रयुक्त “यद्यपि” पद के अन्वय के लिए अन्य “तथापि” शब्द का अध्याहार कर लेना चाहिए। सिद्धान्ती के वाक्य में यदि दो “तथापि” पद का होना आवश्यक है, तो ग्रन्थकार ने दो “तथापि” पद क्यों नहीं दिया? न देना तो ग्रन्थकार की न्यूनता है। इस शङ्का के समाधान में कह रहे हैं कि दूसरे “तथापि” पद का अध्याहार न कर के एक ही “तथापि” पद से तन्त्र द्वारा दोनों अर्थों का बोध हो जायेगा। (तन्त्र का लक्षण है—‘सकृदुच्चारितत्वे सति अनेकार्थबोधकत्वं तन्त्रत्वम्’) अर्थात् एक “तथापि” शब्द का अर्थ “तथाविधमेव” हो जायेगा और दूसरे “तथापि” शब्द का अन्वय “यद्यपि” के साथ हो जायेगा। एक बार उच्चरित एक पद का एक ही अर्थ लिया जा सकता है, एक से अधिक अर्थ नहीं लिया जा सकता है। इस अरुचि के कारण “अथवा” से दूसरा समाधान देते हुए कह रहे हैं कि “अनुमित्यनङ्गत्वेऽपि” यहां पर जो अङ्गत्व शब्द है, उसका अर्थ पूर्वशङ्कितानङ्गत्व है। ऐसा अर्थ करने पर “तथापि” शब्द का अर्थ “तथाविधमेव” न करने पर भी तथा

१. मूलस्थ अनुमित्यनङ्गत्वेऽपि इति अयमपिशब्दः समुच्चयार्थः। उक्तविधया अनुमित्यनङ्गत्वसहितं विचाराङ्गत्वमिति समुच्चय इति भावः।

लघुचन्द्रिका

साध्याभावप्रतियोगितया। विचाराङ्गत्वं विचारप्रवृत्त्युपयुक्तस्य संशयाभावरूपफलज्ञानस्य विशेषणज्ञानविधया कारणे ज्ञाने विषयत्वम्। तथाच विप्रतिपत्तिवाक्यात् संशये जाते सदेहीत्या—कारकेण संशयरूपविशेषणज्ञानेन संशयाभावरूपफलज्ञानाधीनेच्छया विचारे प्रवृत्तिरित्येवरीत्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

“यद्यपि” के साथ अन्वय करने के लिए “तथापि” शब्द का अङ्काहार न करने पर भी सिद्धान्ती के विवक्षित अर्थ की सिद्धि हो जायेगी। अर्थात् पूर्व में उक्त यद्यपि के साथ तथापि का अन्वय भी हो जायेगा और पक्षतासम्पादकतादि रूप से संशय अनुमिति का अङ्ग न होने पर भी “व्युदसनीयता” अनुमिति का अङ्ग है—ऐसा अर्थ बोध भी हो जायेगा। मूलस्थ “व्युदसनीयता” का अर्थ निवर्तनीयतया नहीं है किन्तु विचार का साध्य (फल) जो अभाव (संशयाभाव) उसका प्रतियोगितया संशय विचार का अङ्ग बनेगा। (कहने का तात्पर्य यह है कि विचार न करने से प्रपञ्च सत्य है या मिथ्या है? ऐसे संशय की निवृत्ति सम्भव नहीं है। अतः मध्यस्थ के द्वारा विप्रतिपत्तिवाक्य का उच्चारण कर के संशय उत्पन्न करना उचित ही है। यदि मध्यस्थ विप्रतिपत्तिवाक्य का उच्चारण नहीं करता है तो संशय उत्पन्न ही नहीं होगा और तब तो विचार करना व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि विचार तो संशय को हटाने के लिए ही किया जाता है। जिस विषय पर संशय नहीं है, उस पर विचार करना व्यर्थ होता है। इस प्रकार से विचार के प्रति संशय अङ्ग बन गया।) अद्वैतसिद्धिकार ने विप्रतिपत्तिवाक्यजन्य संशय में विचाराङ्गत्व कहा है, अब विप्रतिपत्तिवाक्यजन्य संशय विचार का अङ्ग किस प्रकार से बनता है। इसको स्पष्ट करते हुए लघुचन्द्रिकाकार कह रहे हैं कि विचार में प्रवृत्ति के उपयोगीभूत संशयाभावरूपफल के ज्ञान में विशेषणज्ञानविधया (प्रतियोगिज्ञानविधया) कारणीभूत संशयज्ञान का विषयत्व ही विचाराङ्गत्व है। अर्थात् कारणज्ञान=संशय ज्ञान, उसका विषय=संशय। अतः विषयत्व संशय में। इस प्रकार विचाराङ्गत्व संशय में गया। विप्रतिपत्तिवाक्य का विचार में क्या उपयोग है? इसी को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि विप्रतिपत्तिवाक्य से संशय उत्पन्न होने पर “मैं सन्देह करता हूँ।” इस प्रकार से संशयरूपविशेषण (संशयाभाव के प्रतियोगिरूप संशय) का ज्ञान होता है। तब संशयाभावरूप फल ज्ञान से होने वाली इच्छा (मुझे संशय को दूर करना है—ऐसी इच्छा) से विचार में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार से विचार में विप्रतिपत्तिवाक्य का उपयोग सिद्ध हो जाता है। कहने का भाव यह है कि—

१—मध्यस्थ के द्वारा “प्रपञ्चो मिथ्या न वा?” इस प्रकार से विप्रतिपत्तिवाक्य का उच्चारण किया जाता है।

२—उक्त वाक्य को सुनकर वादियों के मन में यह संशय उत्पन्न होता है कि प्रपञ्च मिथ्या है अथवा सत्य है? इस पर मुझे संशय हो रहा है। (“सन्देहि” ऐसा अनुव्यवसायज्ञान होता है।) यह फलज्ञान का कारणीभूत ज्ञान है।

३—वादियों के मन में ही उक्त सन्देहज्ञान के पश्चात् संशयाभावज्ञान (विचार से संशय को हटाया जा सकता है— ऐसा ज्ञान) उत्पन्न होगा। यही है फल का ज्ञान।

४—फल ज्ञान से वादियों के मन में ऐसी इच्छा उत्पन्न होगी कि विचार के द्वारा मुझे

तादृशसंशयं प्रति विप्रतिपत्तेः क्वचिन्निश्चयादिना प्रतिबन्धादजनकत्वेऽपि स्वरूपयोग्यत्वाद्

लघुचन्द्रिका

विचारे विप्रतिपत्तिवाक्योपयोग इति भावः।१॥

ननु—वादिनोः स्व—स्वकोटिनिश्चयकाले तत्संशयोत्पादानुपपत्तिः, अत आह—तादृशेति। विचाराङ्गेत्यर्थः। स्वरूपयोग्यत्वात्=कारणत्वात्। प्राचीनमते विप्रतिपत्तिवाक्यस्य शाब्दधीरूपसंशयोत्पादकत्वस्वीकारात्। प्रत्यक्षस्यैव संशयत्वमिति मते तु कारणीभूतकोटिद्वयोप—

सत्यानन्दप्रबोधिका

संशय को हटाना चाहिए।

५— उक्त इच्छा के होने से वादियों की विचार में प्रवृत्ति होने से विचार में विप्रतिपत्तिवाक्य की उपयोगिता सिद्ध हो जाती है।१॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस काल में वादी और प्रतिवादी को अपने-अपने कोटि का निश्चय रहता है, उस काल में मध्यस्थ के द्वारा कथित विप्रतिपत्तिवाक्य से वादी और प्रतिवादी में संशय तो उत्पन्न होगा नहीं। अतः विप्रतिपत्तिवाक्य से जन्य संशय को विचार का अङ्ग नहीं मानना चाहिए। इस शङ्का का समाधान करने के लिए अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है—“तादृशसंशयं प्रति विप्रतिपत्तेः क्वचिन्निश्चयादिप्रतिबन्धादजनकत्वेऽपि स्वरूपयोग्यत्वात्”। “तादृशसंशयं प्रति” का अर्थ है— विचार का अङ्गभूतसंशय के प्रति। “स्वरूपयोग्यत्वात्” का अर्थ है—“कारणातावच्छेदकधर्मवत्त्वात्”। कहने का आशय यह है कि जहाँ निश्चय—विशेष दर्शनादिरूप प्रतिबन्धक के रहने के कारण विप्रतिपत्तिवाक्य वादी—प्रतिवादी में संशय को उत्पन्न नहीं कर पाता है, वहाँ भी संशय को उत्पन्न करने की विप्रतिपत्तिवाक्य की स्वरूपयोग्यता=कारणता समाप्त नहीं हो जाती है, अपितु बनी रहती है, क्योंकि उस स्थिति में प्रतिबन्धक के रहने के कारण विप्रतिपत्तिवाक्य से वादी—प्रतिवादी में संशय न उत्पन्न होने पर भी, वह वाक्य मध्यस्थ या परिषदवर्ग में संशय उत्पन्न करता ही है। अन्यथा किसी में भी संशय न रहने पर विचार में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि संशय हमेशा प्रत्यक्ष रूप ही होता है। अतः विप्रतिपत्तिवाक्य से संशय उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसके समाधान में कह रहे हैं कि प्राचीन नैयायिकों ने विप्रतिपत्तिवाक्य से जन्य शाब्दबोधात्मक संशय माना है। नव्यनैयायिकों के मत में तो संशय हमेशा प्रत्यक्षात्मक ही होता है। अर्थात् इन्द्रियजन्य होता है। शब्द—अनुमानादि से कभी भी संशयात्मक ज्ञान होता ही नहीं है। जहाँ हम समझते हैं कि किसी के कहने से किसी को किसी विषय में संशय हो जाता है—वहाँ वास्तव में योग्यतादि के न रहने से शाब्दबोध ही (कोई ज्ञान ही) उत्पन्न नहीं होता है। वहाँ शब्द का श्रोत्रजप्रत्यक्षमात्र होता है, अर्थ ज्ञान नहीं होता है। अतः नव्यनैयायिकों के मतानुसार विप्रतिपत्तिवाक्यरूपशब्दप्रमाण से संशयज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिए “स्वरूपयोग्यत्वात्” का अर्थ “कारणातावच्छेदकधर्मवत्त्वात्” न करके दूसरा अर्थ करते हैं— “कारणीभूतकोटिद्वयोपस्थितिहेतुपदघटितत्वात्”। अर्थात् संशय के प्रति हेतु=कोटिद्वयोपस्थिति, उसका हेतु पद =मिथ्या न वा— ये पद, उनसे घटित विप्रतिपत्तिवाक्य। अतः उक्त घटितत्व विप्रतिपत्तिवाक्य में गया। “यत्र यत्र कोटिद्वयोपस्थितिः तत्र तत्र संशयः” इस

वाद्यादीनाञ्च निश्चयवत्वे नियमाभावात् 'निश्चितौ हि वादं कुरुतः' इत्याभिमानिकनिश्चयाभिप्रायम्,

लघुचन्द्रिका

स्थितिहेतुपदघटितत्वादित्यर्थः। तथाच वादिनोर्निश्चयकाले संशयानुत्पत्तावपि संशयकारणत्वादिरूपेण ज्ञाता विप्रतिपत्तिः संशयं स्मारयति; ययोः सम्बन्धः पूर्वं गृहीतः, तयोरेकज्ञानस्यापरस्मारकत्वात्। तथा च तथैव तदा तस्या उपयोग इति भावः॥१२॥

'आभिमानिकनिश्चयाभिप्रायम्' इति निश्चयवानस्मीति ज्ञापयन्तौ विवदेते इत्यर्थकम्। तथाच वादिनोर्निश्चयकाले सभापत्यादीनां संशयाभावमुद्दिश्य विचारे प्रवृत्तिरिति भावः॥१३॥

ननु—विशेषणज्ञानस्य विशिष्टबुद्ध्यहेतुत्वमते नोक्तरीत्या विप्रतिपत्तिरुपयुज्यत इति—चेत्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्याप्ति के अनुसार यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जहां—जहां कोटिद्वयोपस्थिति है वहां—वहां संशय उत्पन्न होगा, किन्तु जहां विप्रतिपत्तिवाक्य से संशय उत्पन्न नहीं होता है वहां समझना पड़ेगा कि संशय उत्पत्ति के प्रति किसी प्रतिबन्धक के रहने के कारण उक्त स्थल पर संशय उत्पन्न नहीं हुआ। वह प्रतिबन्धक वादियों का स्व—स्व कोटि में निश्चय ही है। किन्तु जिसके मन में वैसा निश्चय नहीं है, उनके मन में तो विप्रतिपत्तिवाक्य को सुनकर संशय उत्पन्न होगा ही। अतः वहां विप्रतिपत्तिवाक्य को संशय के प्रति कारण माना ही जायेगा। अतः संशय के उत्पत्ति के प्रति प्रतिबन्धकीभूत स्व—स्वकोटि के निश्चय काल में विप्रतिपत्तिवाक्य से संशय के उत्पन्न न होने पर भी उन वादियों को भी यह ज्ञान तो है ही कि विप्रतिपत्तिवाक्य से संशय उत्पन्न होता है। अतः संशयकारणत्वेन ज्ञाता हो गयी कि विप्रतिपत्ति। इस प्रकार से विप्रतिपत्ति दो प्रकार से ज्ञात हुई। प्रथम—विप्रतिपत्ति संशय का कारण है। द्वितीय—संशय का कारणीभूत जो कोटिद्वयोपस्थिति, उसका हेतुभूत मिथ्या न वा इत्यादि पद, उससे घटित विप्रतिपत्ति। इन दो प्रकारों से संशय के साथ विप्रतिपत्ति का सम्बन्ध ज्ञात है। अतः स्व—स्वकोटि निश्चय काल में वादियों को विप्रतिपत्तिवाक्य से संशय उत्पन्न न होने पर भी उक्त दो प्रकारों से संशय के साथ विप्रतिपत्ति का सम्बन्ध ज्ञात होने के कारण विप्रतिपत्ति संशय का स्मरण कराती है। (स्मरण का आकार होगा—भले ही हमको विप्रतिपत्तिवाक्य से इस समय संशय न हो रहा हो, किन्तु विप्रतिपत्तिवाक्य संशय का कारण तो है ही, क्योंकि छात्रावस्था में विप्रतिपत्तिवाक्य से संशय होता रहा है।) क्योंकि जिन दो पदार्थों में सम्बन्ध निश्चित होता है उनमें से एक पदार्थ का ज्ञान या ज्ञायमान एक पदार्थ दूसरे का स्मारक होता है— ऐसा दार्शनिकों का मत है। फलतः वादियों के स्व—स्वकोटि निश्चयकाल में भी संशयस्मारकत्वेन विप्रतिपत्तिवाक्य का उपयोग सिद्ध हो जाता है॥१२॥

मूलस्थ "आभिमानिकनिश्चयाभिप्रायम्" इस वाक्य का अर्थ है कि वस्तुतः निश्चय शून्य होते हुए भी मैं द्वैतसत्यत्व में निश्चय वाला हूँ और मैं द्वैतमिथ्यात्व में निश्चयवाला हूँ, इस प्रकार से वादी और प्रतिवादी एक—दूसरे को ज्ञापन करते हुए वादादि में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए वादियों के आभिमानिक निश्चयकाल में मध्यस्थ और सभासदों तथा उपस्थित श्रोताओं के संशयाभाव को उद्देश्य करके विचार में प्रवृत्ति होती है— ऐसा अद्वैतसिद्धिकार के कथन का भाव है॥१३॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि जो लोग विशिष्टज्ञान के प्रति विशेषणज्ञान को कारण मानते हैं। उनके मतानुसार विचार में प्रवृत्ति के लिए विचार का फल जो संशयाभाव है, उसका ज्ञान चाहिए। फलज्ञान होने से "उस फल को मुझे उत्पन्न करना है" ऐसी इच्छा होगी। उसके पश्चात्

परपक्षमालम्ब्याप्यहङ्कारिणो विपरीतनिश्चयवतो जल्पादौ प्रवृत्तिदर्शनात् । तस्मात् समयबन्धादिवत्

लघुचन्द्रिका

सत्यम्; तथापि स्वस्य परस्य वा संशयाभाववत्त्वे निश्चिते तत्र सिद्धत्वज्ञानाद् न तदुद्देशेन प्रवृत्तिः, अतः संशयाभाववत्त्वनिश्चय— विरोधिनी संशयवत्त्वधीरपेक्ष्यत एव ॥४॥

ननु—वादिनोरन्येषां च सभास्थानां निश्चये वादिभ्यां निश्चिते संशयाभावमुद्दिश्य न विचारे तयोः प्रवृत्तिः, किन्तु विजयादिकमुद्दिश्य; तत्र च विप्रतिपत्तिर्नोपयुज्यते, अत आह—तस्मादिति । स्वकर्तव्येति । उक्तस्थले तात्कालिके संशयाभावे निश्चितेऽपि निश्चयजन्यसंस्कारस्य कालान्तर उच्छेदशङ्कया संशयोत्पत्तिसम्भवज्ञानेन तदापि संशयाभावोऽनुवर्ततामिति च्छायाः सम्भवान्न

सत्यानन्दप्रबोधिका

विचार में प्रवृत्ति होगी। संशयाभावरूपफलज्ञान के लिए विशेषण जो संशय उसका ज्ञान चाहिए। संशय के लिए विप्रतिपत्तिवाक्य हेतु है। इस प्रकार से विप्रतिपत्तिवाक्य में विचाराङ्गत्व सिद्ध होता है, किन्तु नवीन नैयायिकों का कथन है कि विशिष्टज्ञान के लिए विशेषणज्ञान की कहीं पर आवश्यकता होती है और कहीं पर नहीं। जैसे ज्योतिषी ने बतलाया कि देवदत्त को पुत्र होगा। इससे भाविपुत्रविशिष्ट देवदत्त का ज्ञान होगा। वहां उस ज्ञान के पहले विशेषण = भाविपुत्र का ज्ञान होता नहीं है। अतः नव्यनैयायिक घटत्वविशिष्टघटज्ञान के पहले विशेषणीभूतघटत्व का निर्विकल्पक ज्ञान नहीं मानते हैं। इसलिए जिनके मत में विशिष्टज्ञान के प्रति विशेषणज्ञान को कारण नहीं माना जाता है, उनके मत में पूर्वोक्त युक्ति से विप्रतिपत्ति को विचार का अङ्ग सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से संशयाभावरूप फल का घटक संशयरूपविशेषणज्ञान द्वारा विप्रतिपत्तिवाक्य में विचाराङ्गत्व सिद्ध न होने पर भी वादी और प्रतिवादी को “संशयवानस्मि” इस प्रकार का ज्ञान न होने पर “संशयाभाववानस्मि” इस प्रकार से संशयाभाव में निश्चितत्व का ज्ञान होने से संशयाभावरूपफल के उद्देश्य से विचार में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः विचार में प्रवृत्ति के लिए संशयाभाववत्त्वनिश्चय की विरोधिनी संशयवत्त्वधी की अपेक्षा अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी, क्योंकि यह नियम है कि “यद् व्यतिरेकज्ञानत्वेन यत्प्रतिबन्धकत्वम्, तन्निश्चयः तद्धेतुः”। प्रकृत में संशयवत्त्वाभावज्ञानत्व रूप से संशयवत्त्वाभावज्ञान में विचार प्रवृत्ति का प्रतिबन्धकत्व है। अतः संशयवत्त्व का निश्चय विचार प्रवृत्ति का हेतु है। इसलिए विचार प्रवृत्ति में विप्रतिपत्तिवाक्य का उपयोग सिद्ध हो जाता है ॥४॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस किसी के विषय में वादी—प्रतिवादी और सभास्थ सभी व्यक्तियों को निश्चय ही है, किसी को संशय नहीं है। ऐसे स्थल पर संशयाभावरूप फल के उद्देश्य को लेकर विचार में प्रवृत्ति सम्भव नहीं हो पायेगी किन्तु यह देखा गया है कि उक्त स्थलों पर भी विजयादि के उद्देश्य से विचार में प्रवृत्ति होती है। अतः ऐसे स्थल पर विप्रतिपत्तिवाक्य को विचार का अङ्ग सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इस शङ्का के समाधान के लिए अद्वैतसिद्धिकार ने कहा—“तस्मात् समयबन्धादिवत् स्वकर्तव्यनिर्वाहाय मध्यस्थेन विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीयैव”। अर्थात् जहां किसी के मन में संशय नहीं है, ऐसे निश्चित विषयकस्थल में तात्कालिक (वर्तमानकाल में) संशयाभाव निश्चित होने पर भी निश्चयजन्य संस्कार के कालान्तर में विलोप की आशङ्का से संशय उत्पत्ति सम्भव है। इस कारण से कालान्तर में भी संशयाभाव बना रहे— ऐसी इच्छा के सम्भव होने के कारण विजयादि मात्र के उद्देश्य से उक्त स्थल पर भी विचार में वादी—प्रतिवादी की प्रवृत्ति नहीं होती है अपितु विजयादि के साथ—साथ स्थायी

स्वकर्तव्यनिर्वाहाय मध्यस्थेन विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीयैव ।

लघुचन्द्रिका

विजयादिकमात्रमुद्दिश्य प्रवृत्तिः ॥५॥

किञ्च यथा समयबन्ध एतन्मतमवलम्ब्यैव युवाभ्यां विचारणीयमित्याकारको मध्यस्थेन क्रियते; अन्यथा वादिनोर्मतान्तरप्रवेशोऽव्यवस्थापत्तेः, यथा वा वादिनौ परीक्ष्येते, अन्यथा मूर्खस्य विचारे मध्यस्थस्यैव हास्यत्वापत्तेः; तथा विप्रतिपत्तिरपि मध्यस्थेन कार्यैव; अन्यथा प्रासङ्गिकविषयमादाय वादिनोरेकस्य जयस्वीकारापत्त्या प्रकृतविषये तयोर्जयपराजयव्यवस्थापन—रूपस्य मध्यस्थकर्तव्यस्यानिर्वाहात् । विप्रतिपत्तौ कृतायां तु सभास्थैस्तच्छ्रवणात्तद्विषयकोटी अपलप्य प्रासङ्गिकविषयान्तरं न वादिभ्यामवलम्ब्य विजयः स्वीकर्तुं शक्यते । तस्मात्सार्वकालिक—संशयाभावप्रयोजकसंस्कारदाढ्यस्योक्तव्यवस्थापनस्य च स्वकर्तव्यस्य निर्वाहाय मध्यस्थेन विप्रतिपत्तिः कार्यैवेति भावः ॥६॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

संशयाभाव के उद्देश्य से भी विचार में प्रवृत्ति होती है । अतः ऐसे स्थल पर भी संशयाभावज्ञान के लिए विशेषणीभूत संशय का ज्ञान आवश्यक है । वह संशय विप्रतिपत्तिवाक्य से जन्य होने के कारण विप्रतिपत्तिवाक्य में विचाराङ्गत्व सिद्ध हो जायेगा ॥५॥

अब “किञ्च...” से यह कह रहे हैं कि जैसे विचार के आरम्भ में मध्यस्थ के द्वारा “वादिगणों! आप लोगों को इस मत का अवलम्बन करके ही विचार करना चाहिए।” ऐसा समयबन्धादि का निर्देश किया जाता है । अन्यथा वादी—प्रतिवादी के मतान्तर में प्रवेश होने पर अव्यवस्था की आपत्ति होगी । अथवा मध्यस्थ के द्वारा जैसे विचार में प्रवेशार्थी वादियों की परीक्षा की जाती है । अन्यथा मूर्खों के विचार में मध्यस्थ बनने पर मध्यस्थ को हंसी का पात्र बनना पड़ेगा । वैसे ही विचार के प्रारम्भ में मध्यस्थ के द्वारा विप्रतिपत्तिवाक्य का भी उद्भावन करना आवश्यक है । यदि विचार के प्रारम्भ में मध्यस्थ के द्वारा विप्रतिपत्तिवाक्य का उच्चारण नहीं किया जाता है तब तो किसी प्रासङ्गिक विषय को लेकर दोनों वादियों में से किसी एक का ही विजय स्वीकार करना पड़ेगा । अर्थात् जो प्रकृत में प्रसङ्ग चल रहा था, उस प्रकृत प्रसङ्ग के विषय में वादी का पक्ष दुर्बल था और प्रतिवादी का पक्ष प्रबल था । अतः सभी को निश्चय था कि प्रतिवादी की विजय होगी, किन्तु वादी ने उक्त प्रसङ्ग को छोड़कर उससे भिन्न प्रसङ्ग को ग्रहण कर लिया, जिसके विषय में उसे अच्छी जानकारी थी, किन्तु प्रतिवादी को उसके विषय में जानकारी नहीं थी, ऐसे स्थल पर मध्यस्थ के द्वारा प्रतिवादी की विजय घोषित न होकर वादी के विजय की घोषणा करनी पड़ेगी । जबकि मध्यस्थ का यह कर्तव्य होता है कि प्रकृत प्रसङ्ग के अनुसार ही जय—पराजय की घोषणा करे । किन्तु यहां पर मध्यस्थ स्वकर्तव्य का निर्वाह नहीं कर पायेगा । यदि मध्यस्थ के द्वारा विचार के प्रारम्भ में विप्रतिपत्तिवाक्य का उच्चारण किया जाता है, तब तो उस सभा में स्थित सभी लोगों से उसका श्रवण होने से विप्रतिपत्तिविषयीभूतकोटिद्वय का अपलप्य करके अर्थात् प्रकृत विषयक कोटियों को छोड़कर के न तो वादी—प्रतिवादी बोल पाते हैं और न किसी प्रासङ्गिक विचार के आधार पर उनकी जय—पराजय का निर्धारण हो पाता है । इस प्रकार से यह निश्चय हुआ कि वादी—प्रतिवादी मध्यस्थादियों के लिए सार्वदिक संशयाभाव के प्रयोजकीभूत (कारणीभूत) संस्कार की दृढ़ता के लिए और मध्यस्थ के लिए जो जय—पराजय व्यवस्थापनरूप स्वकर्तव्य है, उसके निर्वाह के लिए मध्यस्थ के द्वारा विचार के प्रारम्भ में विप्रतिपत्तिवाक्य का प्रयोग अवश्य करना ही चाहिए—यह भाव है ॥६॥

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य विचाराङ्गत्वे सिद्धान्तपक्षः

मिथ्यात्वानुमाने सामान्याकारविप्रतिपत्तिः

तत्र मिथ्यात्वे विप्रतिपत्तिः—ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यहं चिद्विन्नं

लघुचन्द्रिका

प्रतिपन्नेत्यादि। स्वसम्बन्धितया ज्ञाते सर्वत्र धर्मिणि। त्रैकालिकस्य=सर्वदा विद्यमानस्य। निषेधस्य = अत्यन्ताभावस्य। प्रतियोगि? न वा? येन सम्बन्धेन यद्रूपविशिष्टसम्बन्धितया यज्ज्ञातम्, तत्सम्बन्धतद्रूपावच्छिन्नं तन्निष्ठोक्ताभावस्य प्रतियोगित्वं निवेश्यम् ; अन्यथा सम्बन्धान्तररूपान्तरावच्छिन्नमुक्तप्रतियोगित्वमादाय सिद्धसाध्यतापत्तेः। १२ ॥

स्वपदं रजतत्वादिविशिष्टपरम् ; नव्यमते स्वत्वस्याननुगतत्वात्तत्तद्व्यक्तिपरत्वे व्यक्तिभेदेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वोक्त प्रकार से विप्रतिपत्ति वाक्य की सार्थकता सिद्ध हो जाने के पश्चात् विप्रतिपत्ति वाक्य के घटक “प्रतिपन्नोपाधौ” पद का अर्थ करते हुए लघुचन्द्रिकाकार कह रहे हैं कि प्रतिपन्न शब्द का अर्थ है—स्वसम्बन्धितया ज्ञात। (यहां स्व शब्द से मिथ्यात्वेन अभिमत पदार्थ लेना चाहिए।) उपाधि शब्द का अर्थ है—सर्व आश्रय। इस प्रकार से “प्रतिपन्नोपाधौ” पद का अर्थ हुआ—मिथ्यात्वेनाभिमत पदार्थ के सम्बन्धित्वेन ज्ञात सर्व आश्रय (धर्मी) में। त्रैकालिक शब्द का अर्थ है—सर्वदा विद्यमान। निषेध का अर्थ है—अत्यन्ताभाव। इस प्रकार से फलितार्थ यह हुआ कि—मिथ्यात्वेन अभिमत पदार्थ के सम्बन्धित्वेन ज्ञात सभी धर्मी में सर्वदा विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है या नहीं? अर्थात् यदि घट स्वसम्बन्धितया ज्ञात कपाल में सर्वदा विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी = घट हो जाता है, तब घटगत मिथ्यात्व सिद्ध हो जायेगा। जिस सम्बन्ध से जिस धर्म से विशिष्ट पदार्थ का सम्बन्धितया जो अधिकरण ज्ञात है, उसी अधिकरण में रहने वाले त्रैकालिक अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व में उसी सम्बन्ध और उसी धर्म से अवच्छिन्नत्व विशेषण देना चाहिए। अन्यथा सम्बन्धान्तर और रूपान्तर (धर्मान्तर) से अवच्छिन्न उक्त प्रतियोगित्व को लेकर सिद्धसाधनता की आपत्ति आयेगी। कहने का आशय यह है कि नैयायिकगण घटत्वधर्म विशिष्ट घट का समवाय सम्बन्ध से (सिद्धान्ती तादात्म्य सम्बन्ध से) कपाल को अधिकरण मानते हैं। इस प्रकार यहां पर आधेयता का अवच्छेदक सम्बन्ध समवाय और धर्म घटत्व होगा। सिद्धान्ती का कथन है जो आधेयता के अवच्छेदक सम्बन्ध और धर्म है वहीं प्रतियोगिता के अवच्छेदक सम्बन्ध और धर्म होने चाहिए। ऐसा होने पर पटत्वेन घट का अभाव कपाल में लेकर अर्थात् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव और संयोगेन घट का अभाव कपाल में लेकर अर्थात् व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव को लेकर सिद्धसाधनता की आपत्ति नहीं दी जा सकती है। इस प्रकार से मिथ्यात्व के लक्षण का आकार होगा—“यत्सम्बन्धावच्छिन्नयदधर्मावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतावद् यत् प्रतीयते, तत्सम्बन्धावच्छिन्नं तदधर्मावच्छिन्नं तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्”। जैसे— तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नरजतत्वा—वच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणता शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य में प्रतीत होती है। अतः शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य में प्रतीत होने वाले रजत में “तादात्म्येन—रजतत्वेन रजतं नास्ति”—इस प्रकार के अत्यन्ताभाव का जो तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न और रजतत्वावच्छिन्न प्रतियोगित्व है, वही रजतगत मिथ्यात्व है। १२ ॥

“स्वसम्बन्धितया ज्ञाते” में स्वपद रजतत्वाद्यवच्छिन्नयावद् रजतादि का बोधक है, तत्तद्व्यक्ति का बोधक नहीं है। ऐसा अर्थ क्यों किया गया? इसके समाधान में कह रहे हैं कि

प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगि, न वा? पारमार्थिकत्वाकारेणोक्तनिषेधप्रतियोगि, न वेति?

लघुचन्द्रिका

मिथ्यात्वस्य 'भेदापत्तेः। तथा च रजततादात्म्येन ज्ञायमानं यच्छुक्त्यादिकम्, तन्निष्ठाभावीयं यद् रजतत्वतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वम्, तस्य प्रातीतिक इव व्यावहारिकेऽपि रजते सत्त्वात् तत्र सिद्धसाधनवारणाय 'सर्वत्र' इत्युक्तम्। कालिकाव्याप्यवृत्तिमदत्यन्ताभावमादायार्थान्त—

सत्यानन्दप्रबोधिका

नव्यनैयायिक के मत में स्वत्व धर्म को अनुगत जातिरूप नहीं माना जाता है, किन्तु तत्तद्व्यक्ति परक माना जाता है। यदि स्व पद का अर्थ तत्तद् व्यक्ति लिया जाता है तब तो तत्तद्व्यक्तियों के भेद के कारण मिथ्यात्व के भेद की आपत्ति होगी। अर्थात् जब स्व पद से तद्व्यक्ति को लिया जायेगा तब एक बार उच्चरित स्व पद से उसी एक व्यक्ति को ही लिया जा सकेगा, दूसरे व्यक्ति में यह लक्षण नहीं जायेगा। दूसरे व्यक्ति में मिथ्यात्व का लक्षण ले जाने के लिए स्व पद से घटित मिथ्यात्व का अन्य लक्षण बनाना पड़ेगा। वह लक्षण भी स्व पद से घटित होने के कारण किसी एक व्यक्ति में ही जायेगा। इस प्रकार से अनन्त व्यक्तियों के लिए अनन्त मिथ्यात्व के लक्षण बनाने पड़ेंगे। इस कारण से भिन्न—भिन्न मिथ्यात्व के अनन्त लक्षण हो जायेंगे। "सर्वत्र धर्मिणि" में "सर्वत्र" पद की सार्थकता को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि "सर्वत्र" पद न देने पर सिद्धसाधन दोष होगा, क्योंकि रजततादात्म्येन ज्ञायमान शुक्ति में "तादात्म्येन रजतं नास्ति" इस प्रकार से जो अत्यन्ताभाव लिया जाता है। उस अत्यन्ताभाव की रजतत्वावच्छिन्न तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता जैसे प्रातिभासिक रजत में है, वैसे ही व्यावहारिक रजत में भी है, क्योंकि नैयायिक शुक्ति में हट्टस्थ रजत की प्रतीति मानता है। इसलिए उक्त अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता नैयायिक के मतानुसार हट्टस्थ रजत (व्यावहारिक रजत) में सिद्ध ही है। अतः सिद्धसाधन दोष होगा। "सर्वत्र" पद देने पर सिद्धसाधन दोष का वारण हो जायेगा, क्योंकि "सर्वत्र" पद देने पर रजत के सभी अधिकरणों को लिया जायेगा। सर्व अधिकरणों के अन्तर्गत व्यावहारिक रजत के उपादानभूत रजत के व्यावहारिक अवयव भी होंगे। उन अवयवों में नैयायिक के मतानुसार तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नरजतत्वावच्छिन्नरजतनिष्ठप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव सिद्ध नहीं है। इसलिए सिद्धसाधनता नहीं होगी। अत्यन्ताभाव का विशेषण त्रैकालिक क्यों दिया गया है? इसके समाधान में कह रहे हैं कि नैयायिक के एकदेशी के मतानुसार सामयिक अत्यन्ताभाव माना जाता है। अर्थात् एक काल में रहता है और कालान्तर में नहीं रहता है। जैसे भूतल में जिस समय घट है, उस समय वहां घटात्यन्ताभाव नहीं रहता है। घट हट जाने पर घटात्यन्ताभाव आ जाता है। इस मत के अनुसार घटत्वावच्छिन्न संयोगसम्बन्धावच्छिन्न घट की अधिकरणता भूतल में जिस समय है उससे भिन्न समय में उसी भूतल में घटत्वावच्छिन्न संयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटनिष्ठप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव मिल जाता है। किन्तु उक्त घट को मिथ्या नहीं माना जाता है। इस प्रकार से अर्थान्तरता की आपत्ति जो आती है, उसको वारण करने के लिए अत्यन्ताभाव का विशेषण त्रैकालिक दिया गया। त्रैकालिक अत्यन्ताभाव देने पर सामयिक अत्यन्ताभाव को लेकर अर्थान्तर दोष नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि त्रैकालिक अत्यन्ताभाव के देने पर भी यदि पूर्वपक्षी सामयिक अत्यन्ताभाव को लेकर अर्थान्तर दोष देता

लघुचन्द्रिका

रतापत्तेः—‘त्रैकालिकः’ इत्युक्तम् ॥२॥

यद्यप्यत्यन्ताभावस्यैव प्रतियोगिता भेदसहिष्णुना तादात्म्येनावच्छिन्ना, नतु भेदस्य ; तादृशतादात्म्यस्य भेदाविरोधित्वात्, भेदासहिष्णु च तादात्म्यं नास्त्येव ; अत्यन्ताभेदे

सत्यानन्दप्रबोधिका

है तो निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रहस्थान को प्राप्त होगा ॥२॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि निषेध शब्द का अर्थ जो अत्यन्ताभाव किया गया, वह व्यर्थ है, क्योंकि निषेध का अर्थ यदि अभाव किया जाय तो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि सिद्धान्ती के मत में जो घटादि कार्य और कपालादि कारण में तादात्म्यसम्बन्ध माना जाता है वह भेदसहिष्णु होता है। इसलिए अत्यन्ताभाव की ही प्रतियोगिता भेदसहिष्णु तादात्म्य से अवच्छिन्न होती है, भेदीय प्रतियोगिता भेदसहिष्णु तादात्म्य से अवच्छिन्न नहीं होती है, क्योंकि भेदसहिष्णु तादात्म्य भेद का विरोधी नहीं होता है। भेदासहिष्णु तादात्म्य माना नहीं जा सकता है, क्योंकि अत्यन्त अभेद में तादात्म्यादि सम्बन्ध सम्भव नहीं होता है, अर्थात् ऐसा कोई तादात्म्य होता ही नहीं जो भेद को सहन न करने वाला हो। जहां घट का अपने से अभेद है, वहां अभेद भेद को सहन नहीं करता है। अतः यदि जहां अभेद है, वहां यदि तादात्म्य सम्बन्ध का रहना सम्भव होता तब तो तादात्म्य भेदासहिष्णु हो सकता था, परन्तु घट का अपने से तादात्म्य सम्बन्ध रहता है— यह मानना सम्भव नहीं, क्योंकि सभी प्रकार का सम्बन्ध वहीं रहता है, जहां दो पदार्थ होते हैं। कहने का आशय यह है कि प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध अभाव का विरोधी होता है। इसलिए जहां प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध रहता है, वहां अभाव नहीं रहता है। जैसे जिस भूतल में संयोगेन घट है, वहां संयोगेन घट का अत्यन्ताभाव नहीं रहता है। इसी प्रकार जिस घटावयव में घट का तादात्म्य रहता है, उस घटावयव में घट का अत्यन्ताभाव नहीं रहता है। अतः अत्यन्ताभाव का प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध तादात्म्य होता है। भेदसहिष्णु इस बात को सूचित करने के लिए कहा गया कि सिद्धान्ती के मत में जिस घटावयव में घट का तादात्म्य रहता है, उस घटावयव में घटभेद भी रहता है। इसलिए तादात्म्य भेदसहिष्णु है। इस प्रकार से सिद्धान्ती के मत में तादात्म्य भेद विरोधी न होने के कारण भेदीय प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध तादात्म्य नहीं हो सकता है। इसी प्रकार प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का भी प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध तादात्म्य नहीं हो सकता है, क्योंकि जिस कपाल में घट का प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव रहते हैं, उसी कपाल में घट का तादात्म्य रहता है। अतः प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का विरोधी तादात्म्य न होने के कारण प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध तादात्म्य नहीं हो सकता है। अतः परिशेषरूप से अत्यन्ताभाव का प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध तादात्म्य होगा, क्योंकि जिस भूतलादि में घट का अत्यन्ताभाव रहता है, उस भूतलादि में घट का तादात्म्य नहीं रहता है। अतः तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव कहने से अत्यन्ताभाव का ही ग्रहण होगा, भेदादि का नहीं, तब निषेध का अत्यन्ताभाव अर्थ करना व्यर्थ है, केवल अभाव अर्थ करना ही उचित है। इसके समाधान में आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यद्यपि सिद्धान्तमत में भेदीय प्रतियोगिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न नहीं मानी जाती है किन्तु नैयायिकगण भेदीय प्रतियोगिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न मानते हैं। अतः जब सिद्धान्ती के मिथ्यात्वानुमान का आकार यह होगा—

“अयं घटः तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नतया घटत्वावच्छिन्नतया ज्ञाते सर्वत्र धर्मिणि तादात्म्यसम्बन्धा—

लघुचन्द्रिका

तादात्म्यादिसम्बन्धासम्भवात्, तथापि प्रकृतानुमानात्तादात्म्यावच्छिन्नभेदप्रतियोगितासिद्धिमादाया-
र्थान्तरं स्यात्, अतः—‘अत्यन्ताभावः’ इत्युक्तम्। संसर्गाभावो वा निवेश्यः॥३॥

तादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदकरजतत्वादि(मत्त्वे साध्ये कृते)मत्त्वस्य साध्यत्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

वच्छिन्नत्रैकालिकाभावीयप्रतियोगित्ववान्, घटत्वात्, घटान्तरवत्”। इसमें साध्यस्थ अभाव पद के स्थान पर अत्यन्ताभाव न देकर केवल अभाव पद देने पर नैयायिक इस अभाव पद से अन्योन्याभाव (भेद) को लेकर सिद्धसाधन दोष देगा, क्योंकि कपाल में तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-घटत्वावच्छिन्नघटनिष्ठप्रतियोगिताकभेद नैयायिक मानता ही है। अतः सिद्धसाधन की निवृत्ति के लिए निषेध का अत्यन्ताभाव अर्थ करना सार्थक है। अथवा त्रैकालिकाभाव शब्द के स्थान पर त्रैकालिकसंसर्गाभाव रखा जा सकता है। यद्यपि संसर्गाभाव शब्द से प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का भी ग्रहण होता है और उनकी तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता को लेकर पूर्वपक्षी अर्थान्तर दोष दे सकता है किन्तु संसर्गाभाव का त्रैकालिक विशेषण के दे देने से ध्वंस और प्रागभाव की व्यावृत्ति हो जाती है। अतः उनकी तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता को लेकर पूर्वपक्षी अर्थान्तर दोष नहीं दे सकता है। दूसरी बात यह भी है कि यद्यपि पूर्वपक्षी कपाल में घटप्रागभाव और घटध्वंस मानता है किन्तु पूर्वपक्षी को जिस समय कपाल में घट ज्ञात होता है, उसी समय पूर्वपक्षी कपाल में घट प्रागभाव या घटप्रध्वंसाभाव मानता ही नहीं है। अतः तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की प्रतियोगिता को लेकर अर्थान्तर दोष पूर्वपक्षी नहीं दे सकता है। इस प्रकार से त्रैकालिक शब्द के बिना भी अर्थान्तर दोष का वारण हो जायेगा। “तुष्यतु दुर्जनः” इस न्याय से तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रागभावादि की प्रतियोगिता मानकर उक्त अर्थान्तर दोष के वारण के लिए त्रैकालिक विशेषण दिया गया है। अतः त्रैकालिकसंसर्गाभाव कहने से प्रागभाव—प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव से भिन्न अत्यन्ताभाव ही लेना पड़ेगा, जो कि अभीष्ट ही है॥३॥

‘इदं रजतं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नतया रजतत्वावच्छिन्नतया ज्ञाते सर्वत्र धर्मिणि तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नरजतत्वावच्छिन्नत्रैकालिकसंसर्गाभावीयप्रतियोगि दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्”। इस व्यावहारिक पक्षक विशेष अनुमान के साध्य=उक्त प्रतियोगित्व के स्थान पर यदि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नत्व को साध्य बनाया जाता है, तब तो सिद्धान्ती के अनुसार साध्य की प्रसिद्धि हो जायेगी, क्योंकि रजत अवयव में तादात्म्येन—रजतत्वेन रजत का त्रैकालिक-संसर्गाभाव मान्य है। अतः उक्त अभाव की प्रतियोगिता रजत में। अतः उक्त प्रतियोगितावच्छेदकता-वच्छिन्नत्व रजत में चला जायेगा। किन्तु पूर्वपक्षी के अनुसार साध्य की प्रसिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि तादात्म्येन—रजतत्वेन ज्ञात सभी रजत अधिकरण (रजतावयव) में रजत सामान्याभाव की प्रसिद्धि ही नहीं है। कहने का आशय यह है कि नैयायिक रजतत्वेन ज्ञात सर्वान्तर्गत व्यावहारिक रजतावयव में तादात्म्येन—रजतत्वेन रजत का अभाव मानता ही नहीं है, क्योंकि नैयायिक रजतावयव के साथ रजत का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं मानता है और रजतावयव में रजत को समवायेन विद्यमान मानता है। यदि कहा जाय कि रजतावयव में शुक्तिरूप्य का तादात्म्येन—रजतत्वेन अभाव लेंगे, वह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि नैयायिक के अनुसार शुक्ति में प्रतीत होने वाला हट्टस्थ रजत (व्यावहारिक रजत) होता है। अतः रजतावयव में तादात्म्येन—रजतत्वेन शुक्तिरूप्य का भी अभाव नैयायिक के मतानुसार सिद्ध नहीं हो पायेगा। इस प्रकार से जब रजतावयव में

लघुचन्द्रिका

साध्याप्रसिद्धिः, अतस्तदपहाय तादृशप्रतियोगित्वमेव साध्यं कृतम्। तस्यापि शुक्तिरूप्यादावनुमानात्पूर्वमसिद्धिः। रजतसम्बन्धितया प्रतीयमानसर्वान्तर्गतव्यावहारिकरजतादिनिष्ठा—त्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य तादृशावच्छिन्नस्य तत्राभावात्, अतो व्यावहारिकपक्षकविशेषानुमानेषु 'रजतात्वादिना घटो नास्ति' इति प्रतीतिर्घटादिरेव दृष्टान्तः॥४॥

ननु—तादृशप्रतियोगिताया व्यधिकरणावच्छेदकरजतत्ववत्त्वं शुक्तिरूप्यादावपि प्रसिद्धं तदेव साध्यं कुतो न कृतम्? इति—चेत्, न ; तथा सति व्यावहारिकरजतादिरूपे पक्षे तत्प्रसिद्ध्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

रजत का अभाव नहीं मिलेगा, तब उक्त प्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्व की प्रसिद्धि दृष्टान्त शुक्तिरूप्यादि में भी नहीं हो पायेगी। इस प्रकार से साध्याप्रसिद्धि दोष होगा इसलिए उक्त प्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्व को छोड़कर उक्त प्रतियोगित्व को साध्य बनाया गया। यदि उक्त प्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्व को साध्य न बनाकर उक्त प्रतियोगित्व को ही साध्य बनाया जाय तब भी साध्याप्रसिद्धि दोष होगा, क्योंकि नैयायिक के मतानुसार व्यावहारिक रजतावयव में शुक्तिरूप्य का अभाव होता ही नहीं है, क्योंकि शुक्ति में प्रतीत होने वाला रजत हट्टस्थ रजत होता है। इसी को स्पष्ट करते हुए लघुचन्द्रिकाकार कह रहे हैं कि उक्त प्रतियोगित्वरूपसाध्य भी शुक्तिरूप्य में मिथ्यात्वानुमान से पूर्व सिद्ध नहीं है, क्योंकि नैयायिक के मतानुसार रजतसम्बन्धितया प्रतीयमान सर्वान्तर्गत व्यावहारिक रजतावयवनिष्ठ शुक्तिरूप्यादि का त्रैकालिकसंसर्गाभाव मान्य ही नहीं है। अतः उक्त प्रतियोगितारूपसाध्य का समन्वय दृष्टान्त (शुक्तिरूप्य) में नहीं हो पायेगा। इसलिए व्यावहारिक पक्षक विशेष अनुमान (व्यावहारिकरजतत्वविशिष्टं तादात्म्येनरजतत्वेन ज्ञायमान सकलधर्मिनिष्ठत्रैकालिकसंसर्गाभावीयः तत्सम्बन्धेन तद्रूप्येण प्रतियोगी, दृश्यत्वात्) में घटादि को दृष्टान्त बनाना चाहिए और उसमें "रजतत्वेन घटो नास्ति" ऐसी प्रतीति के आधार पर प्रसिद्ध जो अभाव है, उसको लेना चाहिए। अर्थात् तादात्म्येन—रजतत्वेन सभी रजताधिकरण में तादात्म्येन—रजतत्वेन घट नहीं रहता है। अतः उक्त प्रतियोगित्वरूपसाध्य दृष्टान्त (घट) में चला जायेगा॥४॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती यदि उक्त प्रतियोगित्व को साध्य बनाने का हठ करते हैं तो सिद्धान्ती को व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव लेना पड़ रहा है और दृष्टान्त शुक्तिरूप्य को छोड़कर घट को दृष्टान्त बनाना पड़ रहा है, किन्तु यदि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव ही लेना है तब तो उक्त प्रतियोगित्व को साध्य बनाने का हठ छोड़कर सिद्धान्ती उक्त प्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्व को ही साध्य क्यों नहीं बना रहे हैं। इससे लाभ यह होगा कि घट को दृष्टान्त न बनाकर शुक्तिरूप्य को ही दृष्टान्त बना सकते हैं। जैसे "रजतत्वेन घटो नास्ति" इस प्रकार के अभाव का प्रतियोगिता का अवच्छेदक रजतत्व है। अवच्छेदकवत्=शुक्तिरूप्य, अवच्छेदकवत्त्व शुक्तिरूप्य में चला जायेगा। इस प्रकार से दृष्टान्त शुक्तिरूप्य में साध्य के समन्वय हो जाने से दृष्टान्त शुक्तिरूप्य को बदलना नहीं पड़ेगा, और दृष्टान्त में साध्य के अप्रसिद्धि का भी दोष नहीं आयेगा। पूर्वपक्षी की इस शङ्का का निवारण करते हुए सिद्धान्ती कर रहे हैं कि उक्त प्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्व को साध्य बनाने पर व्यावहारिक रजतादि रूप पक्ष में व्यधिकरणावच्छेदक रजतत्ववत्त्व की प्रसिद्धि पूर्वपक्षी के मत में भी होने से सिद्धसाधनता की आपत्ति आयेगी। इसलिए उक्त प्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्व को साध्य न बनाकर उक्त प्रतियोगित्व को साध्य बनाया गया। यहाँ

लघुचन्द्रिका

सिद्धसाधनापत्तेः, समानाधिकरणावच्छेदकरजतत्वस्यैव साध्यीकार्यत्वे (ना) प्रसिद्धावश्यकत्वात्। सामान्यानुमाने तु शुक्तिरूप्यादिकं मूलोक्तं दृष्टान्तः। स्वत्वस्यानुगतस्य प्राचां मते स्वीकारेण स्वविशिष्टसम्बन्धितया ज्ञायमाने सर्वत्र विद्यमानात्यन्ताभावस्य प्रातीतिकरजतत्वतादात्म्याबन्धिन-प्रतियोगित्वस्य प्रातीतिकरजतादौ सत्त्वात्। नचैवम्—सर्वदेशकालव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

पर यदि यह शङ्का किया जाय कि उक्त प्रतियोगित्व को साध्य बनाने पर भी सिद्धसाधन दोष होगा, क्योंकि व्यधिकरणावच्छेदक जो घटत्व है, उस घटत्वेन रजताभाव पक्ष में नैयायिक मानता ही है। इसका समाधान यह है कि मिथ्यात्वानुमान का साध्य तादात्म्येन—रजतत्वेन व्यावहारिक रजत का सर्वाधिकरण में तादात्म्येन—रजतत्वेन त्रैकालिकसंसर्गाभावीय प्रतियोगित्व लेना है। अतः पक्ष में घटत्वेन रजताभाव नहीं ले सकते हैं। अर्थात् रजतत्वेन ही अभाव लेना है। चाहे पक्ष में ले या दृष्टान्त में। पक्ष (रजत) में रजतत्वेन रजत का अभाव नैयायिक मानता नहीं है। अतः सिद्धसाधन की आपत्ति नहीं होगी और रजतत्वेन घट के अभाव को लेकर दृष्टान्त (घट) में साध्य का समन्वय हो जाने से साध्याप्रसिद्धि दोष भी नहीं होगा। प्रतियोगित्व जहाँ है, वहीं पर प्रतियोगितावच्छेदक रहता है तो उस अवच्छेदक को समानाधिकरणावच्छेदक कहते हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि रजतत्व यदि प्रतियोगिता के समानाधिकरणावच्छेदक है। अर्थात् रजतत्वेन रजताभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदकवत्त्व को साध्य बनाना है तो साध्यप्रसिद्धि की आवश्यकता पड़ेगी जो कि मिलेगी नहीं, जिसका स्पष्टीकरण खण्ड संख्या चतुर्थ में किया जा चुका है। अर्थात् वैसा साध्य बनाने पर साध्याप्रसिद्धि दोष होगा और व्यधिकरणावच्छेदकवत्त्व को साध्य बनाने पर साध्याप्रसिद्धि दोष न होने पर भी सिद्धसाधनदोष तो होगा ही। अतः उक्त प्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्व को कैसे भी (समानाधिकरण अथवा व्यधिकरण) साध्य नहीं बनाया जा सकता है। अतः उक्त प्रतियोगित्व को ही साध्य बनाना उचित है। मिथ्यात्व के सामान्यानुमान में मूलोक्त शुक्तिरूप्यादि ही दृष्टान्त हैं। अनुमान का आकार होगा—ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्थं चिद्धिन्नं यत्सम्बन्धेन यद्रूपवत्त्वेन स्वसम्बन्धितया ज्ञातसकलधर्मेनिष्ठ-त्रैकालिकसंसर्गाभावीयः तत्सम्बन्धेन तद्रूपवत्त्वेन प्रतियोगी, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्। प्राचीन मत में स्वत्व अनुगत है। अतः प्राचीनमत में सामान्यानुमान होगा। किन्तु नव्यमत में स्वत्व अनुगत नहीं होता है। अतः नव्यमत में विशेषानुमान होगा। विशेषानुमान में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव को लेकर घटादि को दृष्टान्त बनाना पड़ेगा। प्राचीनमत में स्वत्व को अनुगत धर्म मानने से यह सुविधा होगी कि जिस समय साध्य को पक्ष या दृष्टान्त में जहाँ ले जाना है, उसी को स्व पद से ले सकते हैं। अतः दृष्टान्त में साध्य ले जाते समय स्वपद से शुक्तिरूप्य लेंगे। अतः स्व=प्रातिभासिकरजतत्व (शुक्तिरूप्यत्व) उससे विशिष्ट प्रातिभासिक रजत है और प्रातिभासिकरजतसम्बन्धितया तादात्म्येन ज्ञात धर्मी शुक्ति होगी। न कि व्यावहारिक रजत, क्योंकि रजत में रजत की प्रतीति को यथार्थ प्रतीति माना जाता है। शुक्ति में प्रातिभासिक रजत का त्रैकालिकसंसर्गाभाव मिल जायेगा। अतः तादृशाभाव प्रतियोगित्व शुक्तिरूप्य में चले जाने से शुक्तिरूप्य दृष्टान्त बन जायेगा। इस प्रकार से शुक्ति में प्रातीतिक रजत का अभाव पूर्वपक्षी भी मानता ही है। अतः शुक्तिरूप्य को दृष्टान्त बनाया ही जा सकता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा

लघुचन्द्रिका

पर्यवसितम्, तथाचालीकत्वापत्तिः प्रपञ्चस्येति— वाच्यम् ; कालसम्बन्धित्वसमानाधिकरणस्य तस्य निवेश्यत्वात्। १५।।

ननु—कालसम्बन्धित्वमास्तां प्रपञ्चे, विशेष्यभूतमुक्तप्रतियोगित्वं तु न तत्रास्ति, येन हि रूपेण सम्बन्धेन च यत्र यत् सम्बन्ध्यते, न च तेन रूपेण तत्सम्बन्धेन च तत्र तदभावे विरोधात्—इति मन्वानं वादिनं प्रति तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन तन्मतमनुसृत्य साध्यान्तरमाह—पारमार्थिकेत्यादि। पारमार्थिकत्वावच्छिन्नं यदुक्तप्रतियोगित्वम्, तद्वद्, न वेत्यर्थः। तत्रोक्तप्रतियोगित्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

है कि जो जहाँ प्रतीत हो रहा है उसका वहीं पर त्रैकालिक अत्यन्ताभाव सिद्धान्ती स्वीकार कर रहे हैं और जो जहाँ पर नहीं है वहाँ पर उसका त्रैकालिक अत्यन्ताभाव सर्वमत से सिद्ध ही है। अतः आप के साध्य का पर्यवसित अर्थ यही निकलता है कि आप के मत में व्यावहारिक प्रपञ्च किसी देश में किसी काल में नहीं रहता है। जिसका फलितार्थ यह निकलता है कि आप प्रपञ्च को अलीक मानते हैं। पूर्वपक्षी के कथनानुसार अनुमान का आकार होगा—प्रपञ्चोऽलीकः सर्वदेशकालव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, शशविषाणवत्। इस अनुमान पर यदि कोई शङ्का करता है कि उक्त अनुमान में जो हेतु दिया गया है, उसका ही अर्थ तो अलीक होता है। अतः हेतु और साध्य एक ही हो जाने से उक्त अनुमान अनुमानाभास हो गया। इसका समाधान यह है कि साध्यस्थ अलीक शब्द का अर्थ अप्रतीयमान करेंगे। ऐसा अर्थ करने से उक्त दोष का वारण हो जायेगा। प्रपञ्चगत अलीकत्व के आपत्ति को वारण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त प्रतियोगित्वरूप साध्य का विशेषण कालसम्बन्धित्वसमानाधिकरण देगे। ऐसा होने पर कालसम्बन्धित्व के साथ एक ही अधिकरण में रहने वाला उक्त प्रतियोगित्व होगा। यहाँ अधिकरण प्रतियोगी होगा। अर्थात् प्रतियोगी किसी न किसी काल से सम्बन्धित है। इसलिए प्रतियोगी (प्रपञ्च) को अलीक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अलीक किसी काल का सम्बन्धी नहीं होता है। १५।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त प्रतियोगित्वरूप साध्य का विशेषण के रूप से जो कालसम्बन्धित्व जोड़ा गया है। वह पक्ष (प्रपञ्च) में रहता है, इतना तो हम स्वीकार करते हैं किन्तु उक्त विशेषण का जो विशेष्य भाग = उक्त प्रतियोगित्व है। वह पक्ष में रहता है, इसको हम स्वीकार नहीं कर सकते हैं। इसमें हेतु देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जो वस्तु जिस अवच्छेदक धर्म से और जिस अवच्छेदक सम्बन्ध से जहाँ रहता है, उस वस्तु का उसी अवच्छेदक धर्म से और उसी अवच्छेदक सम्बन्ध से वहाँ अभाव नहीं रह सकता है, क्योंकि एक ही अधिकरण में वस्तु का भाव और अभाव मानना अत्यन्त विरुद्ध होता है—इस प्रकार मानने वाले वादियों के अनुरोध को “तुष्यतु दुर्जनः” इस न्याय से मानकर आचार्यप्रवर साध्यान्तर को कह रहे हैं—पारमार्थिकेत्यादि। उसका अर्थ है—पारमार्थिकत्व से अवच्छिन्न जो त्रैकालिक अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व है, उससे विशिष्ट प्रपञ्च है या नहीं? (यद्यपि शुक्तिरूप्यादि में उक्त प्रतियोगित्व श्रुति—युक्ति—अनुभवादि से सिद्ध है, फिर भी पूर्वपक्षी के सन्तुष्टि को लक्ष्य कर के साध्यान्तर सिद्धान्ती के द्वारा कहा गया है। इसी लिए “तुष्यतु दुर्जनः” इस न्याय का यहाँ उल्लेख किया गया।) आगे यह कहा जा रहा है कि “यत्सम्बन्धेन यदरूप विशिष्टसम्बन्धितया ज्ञातसकलधर्मिनिष्ठत्रैकालिकसंसर्गाभावीय तत्सम्बन्धावच्छिन्न—तद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगित्वम्” इस साध्य के अन्तिम में जो “तद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगित्वम्” है,

लघुचन्द्रिका

‘तद्रूपावच्छिन्नम्’ इति पूर्वोक्तस्य विशेषणस्य स्थाने तद्रूपसमानाधिकरणमिति विशेषणं देयम्। नच—तत्र प्रयोजनाभाव इति—वाच्यम्; घटादेः पारमार्थिकत्वेऽपि पारमार्थिकत्वेन शुक्तिरूप्यादेर्योऽत्यन्ताभावस्तत्प्रतियोगित्वस्य घटादौ सिद्धिमादाय यदर्थान्तरम्, ‘तद्वारणादेः प्रयोजनस्य सत्त्वात्। कपालादौ संयोगादिसम्बन्धेन घटादेर्योऽत्यन्ताभावः, तत्प्रतियोगित्वस्य घटादौ सिद्धिमादाय घटादेः पारमार्थिकत्वस्वीकारेऽप्यर्थान्तरं स्यात्, अतस्तत्सम्बन्धावच्छिन्नेत्यपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

उसके स्थान पर “पारमार्थिकत्वावच्छिन्नतद्रूपसमानाधिकरणप्रतियोगित्वम्” देना चाहिए। अर्थात् रजतादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं रजतत्वादि धर्म के साथ समानाधिकरण होना चाहिए। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि तद्रूपावच्छिन्न के स्थान पर तद्रूपसमानाधिकरण देना व्यर्थ है, क्योंकि इससे कोई विशेष प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो रही है। इसके समाधान में आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि नैयायिकादि के मत में घटादि का पारमार्थिकत्व होने पर भी “कपालादौ घटशुक्तिरूप्ये उभे न स्तः” इस प्रकार से नैयायिक अत्यन्ताभाव ले ही सकता है, क्योंकि घट के अधिकरण (कपाल) में पारमार्थिकत्वेन शुक्तिरूप्यघटोभय नहीं रह सकता है। अतः उक्त अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व शुक्तिरूप्य और घट दोनों में रहेगा। इस प्रकार से नैयायिक के मत में भी घटगत उक्त प्रतियोगित्व की सिद्धि होने से अर्थान्तर दोष होगा। यहां पर शङ्का होती है कि “तद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगित्वम्” के स्थान पर “पारमार्थिकत्वावच्छिन्न—तद्रूपसमानाधिकरणप्रतियोगित्वम्” देने पर भी उक्त अर्थान्तर दोष का वारण नहीं होगा, क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से अभाव लेने पर उक्त अभाव की प्रतियोगिता जैसे शुक्तिरूप्य में है वैसे ही घट में भी है। अतः तद्रूप=घटत्व उसका अधिकरण जो घट है उसमें उक्त प्रतियोगित्व होने से तद्रूपसमानाधिकरणप्रतियोगित्व ही है। अतः पूर्वोक्त अर्थान्तरदोष विद्यमान ही है। इसका समाधान यह है कि तद्रूपसमानाधिकरण का अर्थ है—“पर्याप्तिसम्बन्धेन तद्रूपाधिकरणे पर्याप्तिसम्बन्धेन वृत्तित्वम्”। पर्याप्ति सम्बन्ध से जो धर्म जिसमें रहता है उससे इतर में वह धर्म नहीं रहता है। घटत्व सम्पूर्ण घट में रहता हुआ घटेतर में न रहने वाला धर्म होने से उस घटत्व का पर्याप्ति सम्बन्ध से अधिकरण घट होगा और उस अधिकरण में प्रतियोगित्व को पर्याप्ति सम्बन्ध से रहना चाहिए— ऐसा जब कह दिया गया तब उभयाभाव स्थल पर घट में रहने वाला प्रतियोगित्व पर्याप्ति सम्बन्ध से घट में नहीं रहेगा, क्योंकि प्रतियोगित्व घट में रहता हुआ शुक्तिरूप्य में भी है। अतः पारमार्थिकत्वावच्छिन्न पर्याप्तिसम्बन्धेन घटत्वसमानाधिकरणप्रतियोगित्वं घटत्वेन घटाभाव लेने पर ही घट में जायेगा। उभयाभाव लेने पर नहीं जायेगा। ऐसा होने पर उभयाभाव को लेकर अर्थान्तरदोष भी नहीं होगा और कपालादि में घटत्वेन घटाभाव सिद्ध हो जाने से सिद्धान्ती अभिमत मिथ्यात्व भी अनायास ही सिद्ध हो जायेगा। प्रतियोगित्व का विशेषण तत्सम्बन्धावच्छिन्न देने से यह लाभ होता है कि कपालादि में संयोग सम्बन्ध से घटादि का जो अत्यन्ताभाव है, उसकी घटादि में प्रतियोगिता की सिद्धि को लेकर अर्थान्तरता होती, क्योंकि घट को पारमार्थिक मानने वालों के मत में भी समवायेन घट के अधिकरण कपाल में संयोगेन घट का अत्यन्ताभाव माना जाता है। अतः

लघुचन्द्रिका

प्रतियोगित्वे विशेषणं देयम्। नच पारमार्थिकत्वस्य घटादौ स्वीकारे तेन रूपेण कथं कपालादौ संयोगेनापि घटादेरभावसिद्धिः? व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाववादिनापि विशेषरूपेण सामान्यस्या-
भावस्वीकारेऽपि सामान्यरूपेण विशेषस्याभावास्वीकारादिति—वाच्यम् ; प्रकृतानुमानबलेनैव तादृशाभावसिद्धिरापत्योक्तस्यार्थान्तरस्यापत्तेः॥६॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

अर्थान्तरदोष के निवारण के लिए तत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व को भी प्रतियोगित्व के विशेषण के रूप में दिया गया। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि घटादि में पारमार्थिकत्व को स्वीकार करने पर पारमार्थिकत्वरूप से कपालादि में संयोगसम्बन्ध से भी घटादि का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाववादी के मत में भी विशेष धर्म से ही सामान्याभाव माना जाता है न कि सामान्य धर्म से विशेषाभाव। कहने का आशय यह है कि “घटत्वेन द्रव्यं नास्ति” इस प्रकार घटत्व रूप विशेष धर्म से द्रव्यत्वरूपसामान्यधर्म अवच्छिन्नद्रव्य के अभाव की प्रतीति पटादि में होने पर भी “द्रव्यत्वेन घटो नास्ति” इस प्रकार द्रव्यत्वरूप सामान्यधर्म से घटत्वरूप विशेष धर्म से अवच्छिन्न घट के अभाव की प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि जब यह कहा जाता है कि “घटत्वेन द्रव्याभावः” तब तो अभाव पट में मिल जाता है। यद्यपि पट भी द्रव्य है तथापि पट घटत्व वाला होने के कारण द्रव्य है—यह बात नहीं है। परन्तु जब “द्रव्यत्वेन घटाभावः” यह कहा जाता है तब जिस भूतल में पट है घट नहीं तो उस घटाभाव का अवच्छेदक द्रव्यत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि इसी समय उसी भूतल में अन्य द्रव्य (पटादि) विद्यमान है। इसलिए व्याप्यधर्मावच्छिन्नत्व के सम्भव होने पर दर्शनकारों ने प्रतियोगिता को व्यापकधर्मावच्छिन्न नहीं माना है। यहां पर पारमार्थिकत्व सामान्य धर्म है और घटत्वादि विशेष धर्म है। सामान्य धर्म से विशेषाभाव (कपालादौ पारमार्थिकत्वेन संयोगेन घटाभावः) न लेने के कारण पूर्वोक्त प्रकार से अर्थान्तरदोष नहीं होगा। अतः अर्थान्तर निवारणार्थ प्रतियोगित्व का विशेषण तत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व देना व्यर्थ है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के न मानने पर भी सिद्धान्ती जो सामान्यरूपेण विशेषाभाव मानते हैं, वह तो प्रकृत अनुमान के बल पर ही सिद्ध हो जायेगा। अतः “संयोगेन घटाभावः” को लेकर पारमार्थिकत्वेन तादृशाभावप्रतियोगित्व घटादि में सिद्ध हो जाने से अर्थान्तरदोष होगा। उसका निवारण करने के लिए प्रतियोगित्व का विशेषण तत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व देना उचित ही है॥६॥

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां मिथ्यात्वानुमाने सामान्याकारविप्रतिपत्तिः

सामान्याकारविप्रतिपत्तिवाक्यघटकपदानां व्यावृत्तिः

अत्र च पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वात् पक्षैकदेशे साध्यसिद्धावपि

लघुचन्द्रिका

मत इति। यद्व्यक्तौ साध्यं सिद्धम्, तत्र नानुमितिर्भवति, व्यक्त्यन्तरे तु भवत्येव। समानविशेष्यत्वसम्बन्धेन बाधविशिष्टबुद्ध्येव सिद्धचनुमित्योः, प्रतिबध्यप्रतिबन्धकत्वौचित्यादिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्राचीन मत और नवीन मत की चर्चा वहीं पर होती है जहां पक्ष अनेक होते हैं। जैसे पर्वत अनेक हैं और प्रकृत में द्वैतप्रपञ्च अनेक हैं। जब इनको (पर्वत—द्वैतप्रपञ्चादि को) पक्ष बनाया जायेगा, तब अवश्य ही प्रश्न होगा कि पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अथवा पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धि करनी है। जहां एक ही पक्ष होता है जैसे ब्रह्मादि, वहां इन सब बातों पर विचार नहीं होता है। प्रकृत में पक्ष अनेक हैं। अतः प्राचीनादि मतों पर विचार किया जा रहा है। प्राचीनों का मत है—“पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनानुमितिं प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धिरेव प्रतिबन्धिका”। अर्थात् जहाँ सकल पर्वत को पक्ष बनाकर अनुमिति की जाती है, वहां पर यदि सकल पर्वत में साध्यसिद्ध है तब अनुमिति नहीं होगी किन्तु यदि यत्किञ्चित् पर्वत में साध्यसिद्ध है, तब भी अनुमिति हो जायेगी। ऐसा प्राचीनों का मत है। नवीनों का मत है—“पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येनानुमितिं प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन सिद्धिः पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन च सिद्धिः प्रतिबन्धिका”। अर्थात् जहां पर एक पर्वत को पक्ष बनाकर अनुमिति की जाती है, वहां पर यदि सकल पर्वत में साध्यसिद्ध हो अथवा यत्किञ्चित् पर्वत में साध्यसिद्ध हो, तब अनुमिति नहीं होगी। इस प्रकार से प्राचीन और नवीन मत में जो अन्तर है, उसको ध्वनित करने के लिए अद्वैतसिद्धिकार ने कहा—“मते”। लघुचन्द्रिकाकार प्राचीन मत को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि प्राचीन मत में पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धि उद्देश्य होती है। अतः जिस पक्ष व्यक्ति में साध्यसिद्ध है, उस पक्ष व्यक्ति में अनुमिति न होने पर भी उस पक्ष व्यक्ति से भिन्न पक्ष व्यक्तियों में अनुमिति होती है। इसमें हेतु देते हुए कह रहे हैं कि विशिष्टबुद्धि का विशेष्य जो होगा तद्विषयक बाध हो तो वह बाध विशिष्टबुद्धि का प्रतिबन्धक होगा। जैसे उत्तीर्णत्वविशिष्ट—देवदत्तबुद्धि के लिए उत्तीर्णत्वविशिष्टदेवदत्त का बाध प्रतिबन्धक होगा। यदि सुना गया कि यज्ञदत्त अनुत्तीर्ण हो गया तो यज्ञदत्त में जो उत्तीर्णत्व का बाध हुआ, वह देवदत्त में उत्तीर्णत्व बुद्धि का प्रतिबन्धक नहीं होगा, क्योंकि बाध और विशिष्ट बुद्धि समानविशेष्यक नहीं है, क्योंकि बाध यज्ञदत्त विशेष्यक है और विशिष्टबुद्धि देवदत्त विशेष्यक है। ठीक वैसे ही प्रकृत में सिद्धि का जो विशेष्य=कोई एक पर्वत व्यक्ति, तद्विशेष्यक सिद्धि तद्विशेष्यकानुमिति की प्रतिबन्धक होगी, क्योंकि दोनों के विशेष्य समान है। जहां अनुमिति का विशेष्य पर्वतत्वावच्छिन्न है, वहां पर्वतत्वावच्छिन्न (सभी पर्वत) में साध्य की सिद्धि ही अनुमिति की प्रतिबन्धक मानी जायेगी, क्योंकि दोनों के विशेष्य समान है। ऐसे स्थल पर किसी पर्वत व्यक्ति में जो साध्य की सिद्धि है, वह प्रतिबन्धक नहीं मानी जायेगी, क्योंकि वहां विशेष्य समान नहीं होते हैं, क्योंकि सिद्धि का विशेष्य एक पर्वत व्यक्ति और अनुमिति का विशेष्य सभी पर्वत व्यक्ति

सिद्धसाधनतेति मते शुक्तिरूप्ये सिद्धसाधनवारणाय ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं पक्षविशेषणम् । यदि

लघुचन्द्रिका

प्राचां मतम् । नव्यमते तु यद्वर्माविशिष्टे क्वचित्साध्यं सिद्धम्, तद्वर्माविशिष्टे व्यक्त्यन्तरेऽपि नानुमितिरिति भावः । १॥

पक्षविशेषणम्—पक्षतावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणम्, तावन्मात्रं पक्षतावच्छेदकमिति यावत्; ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वसामानाधिकरण्येनानुमितिं प्रति तत्सामानाधिकरण्येन ब्रह्मतुच्छयोः

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। प्रकृत में जब पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्य को सिद्ध करने का उद्देश्य होता है, तब ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व जो प्रातिभासिक शुक्तिरूप्यादि पदार्थों को पक्षकोटि से बाहर रखने के लिए दिया गया था, उसको पक्ष का विशेषण के रूप से न देने पर प्रातिभासिक शुक्तिरूप्यादि पक्षकोटि में प्रविष्ट हो जायेंगे, किन्तु उसमें साध्य (मिथ्यात्व) सिद्ध होने पर भी वह साध्यसिद्धि (अनुमिति) का प्रतिबन्धक नहीं हो पायेगी, क्योंकि सिद्धि का विशेष्य शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिक पदार्थ और अनुमिति का विशेष्य व्यावहारिक पदार्थ और प्रातिभासिक पदार्थ दोनों हैं। अतः समान विशेष्य न होने के कारण सिद्धि अनुमिति का प्रतिबन्धक नहीं हो पायेगी। इस प्रकार फलितार्थ यह हुआ कि प्राचीन मत में ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व यह विशेषण पक्षकोटि में देना आवश्यक नहीं है। नवीनों के मत में जिस धर्म से विशिष्ट किसी एक व्यक्ति (धर्मी) में साध्य सिद्ध होता है, उस धर्म से विशिष्ट धर्म्यन्तर में भी अनुमिति नहीं होती है। अतः ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व यह विशेषण पक्ष में न देने पर शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिक पदार्थ भी पक्ष कोटि में प्रविष्ट हो जायेगा, क्योंकि जो दो विशेषण दिये गये हैं, वे दोनों (सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्धिन्नत्व) शुक्तिरूप्यादि में रहते हैं। किन्तु शुक्तिरूप्यादि में साध्य (मिथ्यात्व) पूर्वपक्षी के मत में सिद्ध है। किन्तु उक्त दोनों धर्मों से विशिष्ट जो शुक्तिरूप्यादि हैं। उनसे भिन्न उक्त दोनों धर्मों से विशिष्ट जो व्यावहारिक पदार्थ (प्रपञ्च) है। उसमें भी अनुमिति नवीनों के मतानुसार नहीं हो पायेगी। अतः नवीनों के मत में पक्ष का ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व विशेषण देना सार्थक है । १॥

मूलस्थ “ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं पक्षविशेषणम्” के घटक “पक्षविशेषणम्” का अर्थ है— “पक्षतावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणम्” अर्थात् जिसमें पर्याप्ति सम्बन्ध से पक्षतावच्छेदक= ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व बैठा हो, वही पक्ष है, क्योंकि ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्व के साथ सामानाधिकरण हो कर मिथ्यात्वरूप साध्य का अभावज्ञान ब्रह्म और तुच्छ में होने में विरोध न होने के कारण ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्व के साथ सामानाधिकरणक साध्य की अनुमिति के प्रति शेष दो विशेषणों (सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्धिन्नत्व) का पक्षतावच्छेदक में प्रवेश करने में प्रयोजनाभाव है। अर्थात् पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्ध करना जब उद्देश्य होता है, तब पक्ष के एक देश में साध्यसिद्ध होने से सिद्धसाधनतादोष के कारण अनुमिति नहीं होती है। प्रकृत में शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिक पदार्थ यदि पक्षकोटि में प्रविष्ट हो जाते हैं तो सिद्धसाधनतादोष के कारण अनुमिति नहीं होगी। अतः प्रातिभासिक पदार्थों को पक्षकोटि में प्रवेश से रोकने के लिए अबाध्यत्वान्त पद देना आवश्यक है। शेष दोनों विशेषणों (सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्धिन्नत्व) के देने का कोई प्रयोजन नहीं है। यद्यपि उक्त दोनों विशेषणों को न देने पर

पुनः पक्षतीवच्छेदकावच्छेदेनैव साध्यसिद्धिरुद्देश्या, तदैकदेशे साध्यसिद्धावपि सिद्धसाधनाभावात्,

लघुचन्द्रिका

साध्याभावज्ञानस्याविरोधित्वेनान्यविशेषणद्वयस्य पक्षतावच्छेदकप्रवेशे प्रयोजनाभावादिति भावः॥२॥

बाधवारणायेति। ननु—‘असिद्धिवारणायेत्यपि वक्तुमुचितम्। बाधो हि हेत्वाभासो विप्रतिपत्ति— प्रयुक्तन्यायप्रयोगाधीनानुमितावेव विरोधी सन् दूषणम्, नतु विप्रतिपत्तिजन्यसंशयविरोधी

सत्यानन्दप्रबोधिका

पक्षकोटि में ब्रह्म और अलीक प्रविष्ट हो जायेंगे, तो भी ब्रह्म और अलीक में सिद्धसाधनदोष तो दिया नहीं जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म और अलीक में मिथ्यात्व माना नहीं जाता है। इसलिए सिद्धसाधनदोष न देकर बाधदोष दिया जा सकता है। किन्तु उन दोनों में बाधदोष होने पर भी पक्ष के दूसरे भाग=व्यावहारिक प्रपञ्च में बाध न होने के कारण अनुमिति में रूकावट नहीं आयेगी, क्योंकि जहां पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धि उद्देश्य होता है, वहां पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन ही बाध प्रतिबन्धक होता है। अर्थात् सम्पूर्ण पक्ष में बाध होने पर ही अनुमिति में प्रतिबन्धकता आयेगी। यहां ब्रह्म और तुच्छ में बाध रहने पर भी पक्ष के दूसरे भाग = व्यावहारिक प्रपञ्च में पूर्वपक्षी बाध नहीं दे सकता है। अतः ब्रह्म और अलीक पक्षकोटि में प्रविष्ट भी हो जाय तो भी अनुमिति की हानि नहीं होगी। इस मत में चिद्भिन्नत्व और सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वं इन दोनों विशेषणों को न देकर केवल “ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यम्” इतना ही पक्ष बनाना चाहिए। तब इस पर शङ्का होती है कि मूल में “पक्षविशेषणम्” ऐसा न कह कर के “पक्षः” इतना ही कहना चाहिए। इसके समाधान में “पक्षविशेषणम्” का परिष्कार करते हुए लघुचन्द्रिकाकार ने कहा कि जिसमें पर्याप्ति सम्बन्ध से ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व रहता है, वह पक्ष है। जिसका फलितार्थ होगा कि “ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यम्” पक्ष है॥२॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि मूल में जो अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है कि “इतरविशेषणद्वयं तु तुच्छे ब्रह्मणि च बाधवारणायादरणीयमेव” वह उचित नहीं है। अपितु अद्वैतसिद्धिकार को यह कहना चाहिए था कि “इतरविशेषणद्वयं तु तुच्छे ब्रह्मणि चासिद्धिवारणाय बाधवारणायादरणीयमेव”। क्योंकि इतरविशेषणद्वय न देने पर तुच्छ और ब्रह्म दोनों ही पक्ष कोटि में प्रविष्ट हो जायेंगे। उसमें साध्याभाव का निश्चय होने से बाधदोष होगा, क्योंकि जहां पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धि करना उद्देश्य होता है, वहां पक्ष के किसी भी भाग में साध्य का बाध होने पर बाधदोष अनुमिति का प्रतिबन्धक हो जाता है। अतः जैसे पक्ष के यत्किञ्चित् भाग (ब्रह्म और अलीक) में साध्याभाव का निश्चय के कारण बाधदोष होता है। वैसे ही हेतु (दृश्यत्व) के भी न रहने के कारण भागासिद्धि दोष भी होगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि असिद्धि का अर्थ होता है, कि पक्ष में हेतु का न रहना, किन्तु अभी तो विप्रतिपत्ति वाक्य का ही प्रयोग किया गया है। अभी पक्ष में साध्यसिद्धि करने के लिए सिद्धान्ती किस हेतु का प्रयोग करेंगे—यह तो इस समय ज्ञात नहीं है। इसलिए इस समय असिद्धि दोष नहीं दिया जा सकता है। बाध विप्रतिपत्तिजन्य संशय का विरोधी होने के कारण बाध को विप्रतिपत्ति का एक दोषरूप से माना जा सकता है। अर्थात् विप्रतिपत्ति कहते ही साध्य क्या है? यह

तद्वारकं विशेषणमनुपादेयम् । इतरविशेषणद्वयं तु तुच्छे ब्रह्मणि च बाधवारणायादरणीयमेव ।

लघुचन्द्रिका

सन् ; बाधादीनां निश्चयवत्त्वे संशयानुत्पादस्योक्तत्वात्, तदा हि संशयस्याकर्तव्यत्वेन जयव्यवस्थामात्रसिद्धये विप्रतिपत्तेरिवानुमितिसामग्रीमात्रस्य हेत्वाभासादिदोषशून्यस्य प्रतिवादिनिष्ठस्य वादिना कर्तव्यतया संशयविरोधित्वेन बाधस्योद्भावनं व्यर्थम् ; अनुमिति— तत्करणपरामर्शान्य—

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञात हो जाता है और बाध=साध्याभाव का निश्चय । साध्यनिश्चय का विरोधी साध्याभाव का निश्चय होता है । अतः बाध विप्रतिपत्ति का विरोधी हो जाता है । प्रकृत में तुच्छ और ब्रह्म में साध्याभाव का निश्चय रहने के कारण बाधदोष दिया जा सकता है । असिद्धि तो अनुमिति का दोष है विप्रतिपत्ति का नहीं । इसलिए असिद्धिदोष नहीं दिया गया है । इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि बाध हेत्वाभास होने के कारण विप्रतिपत्तिवाक्य से प्रयुक्त न्याय प्रयोग (अनुमान प्रयोग) से जन्य अनुमिति ज्ञान को प्रतिबन्धित करता हुआ ही दोष माना जाता है, विप्रतिपत्तिजन्य संशय का विरोधी होने के कारण बाध को दोष नहीं कहा जाता है । अर्थात् विप्रतिपत्तिवाक्य को सुनकर वादी के द्वारा प्रयोग किये जाने वाले पञ्चावयववाक्य से प्रतिवादी में अनुमिति को उत्पन्न करने में विरोधी है—बाध । इस प्रकार जहां बाधदोष होता है, वहां वादी के द्वारा पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग करने पर भी प्रतिवादी में अनुमितिरूप प्रमा उत्पन्न नहीं होती है । इसलिए बाधदोष अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक है । प्रश्न होता है कि विप्रतिपत्तिवाक्य सुनते ही बाधदोष क्यों दिया जाता है ? इसका समाधान यह है कि जब कभी विप्रतिपत्तिवाक्य सुनते ही बाधदोष दिया जाता है, वहां बाध विप्रतिपत्ति के प्रतिदोष है, इस कारण से बाधदोष नहीं दिया जाता है किन्तु विप्रतिपत्तिवाक्य को सुनकर वादी आगे जिस अनुमान का प्रयोग करेगा, उस अनुमान से जन्य अनुमिति के प्रति बाध एक दोष है—इसको लक्ष्य कर के विप्रतिपत्तिवाक्य को सुनकर बाधदोष दिया जाता है । प्रश्न होता है कि बाध को विप्रतिपत्ति के प्रति साक्षात् दोष क्यों नहीं माना जाता है ? इसके समाधान में कहा गया कि विप्रतिपत्ति का साक्षात् विरोधी मानने का अर्थ यह होगा कि बाध विप्रतिपत्तिजन्य संशय का विरोधी है किन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि वादी—प्रतिवादी स्व—स्व पक्ष में निश्चय वाले होने के कारण उनमें विप्रतिपत्तिवाक्य से संशय उत्पन्न नहीं हो सकता है । इस पर विस्तार से चर्चा पीछे की जा चुकी है । अतः जब विप्रतिपत्तिजन्य संशय ही नहीं तब उसका साक्षात् विरोधी बाध नहीं हो सकता है । विप्रतिपत्तिकाल में संशय का सम्पादन अपेक्षित नहीं होता है, क्योंकि जहां वादी—प्रतिवादी को स्व—स्व पक्ष में निश्चय है, ऐसे स्थल पर वादी जो अनुमान करता है, वह तो इसलिए करता है कि प्रतिवादी में निर्दुष्ट अनुमिति उत्पन्न हो, न कि इस उद्देश्य से करता है कि प्रतिवादी में संशय उत्पन्न हो । अतः जिस प्रकार जय—पराजय के व्यवस्था मात्र की सिद्धि के लिए मध्यस्थ के द्वारा विप्रतिपत्तिवाक्य का उच्चारण किया जाता है वैसे ही प्रतिवादिनिष्ठ हेत्वाभासादि दोषशून्य अनुमिति की सामग्री का सम्पादन भी वादी के द्वारा होना चाहिए । अर्थात् वादी का यह कर्तव्य होता है कि प्रतिवादी में निर्दुष्ट व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मता का ज्ञान तथा हेत्वाभासादि का अभाव ज्ञान उत्पन्न करना । इसलिए विप्रतिपत्तिकाल में अर्थात् न्यायप्रयोग के पूर्वकाल में बाध संशय का विरोधी नहीं

लघुचन्द्रिका

तरविरोधित्वरूपेण हेत्वाभासत्वेन बाधस्योद्भावेन च हेत्वसिद्धेरपि तदुचितमिति—चेत्॥३॥

न, विप्रतिपत्तिकाले हेतोरप्रयुक्तत्वेन हेतुमत्ताज्ञानविरोधिन्या असिद्धेर्ज्ञातुमशक्यत्वेन तस्या विप्रतिपत्तिदोषत्वाव्यवहारात्। नच—पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन विप्रतिपत्तौ साध्यस्य विवक्षितत्वाद् हेतोः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन प्रयोक्तव्यतामनुमायासिद्ध्यादेर्दोषत्वं सम्भाव्यमिति—वाच्यम् ;

सत्यानन्दप्रबोधिका

होता है। किन्तु न्याय प्रयोग के पश्चात् अनुमिति का विरोधी होता है। इसलिए विप्रतिपत्ति काल में बाधदोष का उद्भावन करना व्यर्थ है। यदि कहा जाय कि अनुमिति और उसका करण व्याप्तिज्ञान— इन दोनों में किसी एक का विरोधी हेत्वाभास होता है। हेत्वाभास का उद्भावन उचित ही होता है। प्रकृत में सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्भिन्नत्व इन दोनों विशेषणों के न देने पर पक्षकोटि में ब्रह्म और तुच्छ के प्रविष्ट हो जाने से बाधदोष होगा जो कि अनुमिति का प्रतिबन्धक है। अतः बाधदोष का उद्भावन उचित है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि भागासिद्धिदोष अनुमिति का विरोधी नहीं है, किन्तु अनुमिति की सामग्री जो पक्षधर्मता ज्ञान है, उसका विरोधी है। अतः भागासिद्धि भी हेत्वाभास होने के कारण भागासिद्धि दोष का भी उद्भावन करना उचित ही है॥३॥

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विप्रतिपत्ति पक्ष और साध्य से घटित होती है, हेतु से घटित नहीं होती है। अतः विप्रतिपत्तिकाल में हेतु का प्रयोग न होने के कारण पक्षगत हेतुमत्ताज्ञानरूपपक्षधर्मताज्ञान का विरोधी भागासिद्धि दोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता है। इसी कारण से भागासिद्धि को विप्रतिपत्ति का दोष नहीं माना जाता है। बाध तो पक्ष और साध्य से घटित ही होता है। इसलिए विप्रतिपत्तिकाल में बाधदोष का उद्भावन हो ही सकता है। इसलिए प्रकृत में बाधदोष के निवारण के लिए सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्भिन्नत्व इन दोनों विशेषणों को देना आवश्यक है। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि विप्रतिपत्ति में पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्य विवक्षित है। अतः हेतु भी पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन ही प्रयोक्तव्य है—ऐसा अनुमान हो जाने से विप्रतिपत्तिकाल में असिद्ध्यादि हेत्वाभासों का उद्भावन सम्भव हो जायेगा। पूर्वपक्षी के कहने का आशय यह है कि विप्रतिपत्तिवाक्य सुनने के पश्चात् वादी जो भी अनुमान करेगा उसमें जो भी हेतु देगा, वह सकल पक्ष पर रहेगा और साध्य का व्याप्य भी होगा— ऐसा अनुमान विप्रतिपत्तिकाल में ही प्रतिवादी कर ही सकता है। अतः इतरद्वय विशेषण न देने पर जब ब्रह्म और अलीक पक्षकोटि में प्रविष्ट हो गये और उसमें जब साध्य (मिथ्यात्व) ही नहीं है, तब साध्य का व्याप्य हेतु भी नहीं रहेगा, क्योंकि जब व्यापक=साध्य ही ब्रह्म और अलीक में नहीं है तब साध्य का व्याप्य हेतु ब्रह्म और अलीक में रह ही नहीं सकता है। ऐसा अनुमान कर लेने पर असिद्ध्यादि हेत्वाभासों का उद्भावन किया ही जा सकता है। अर्थात् अद्वैतसिद्धिकार को बाधदोष के साथ-साथ असिद्धिदोष का भी उद्भावन करना चाहिए, जो कि किया नहीं है। अतः मूल ग्रन्थ में न्यूनता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी यह जो नियम बना रहा है कि जहां विप्रतिपत्ति के साध्य का पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन प्रयोग होता है, वहां पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन ही हेतु का प्रयोग होता है, किन्तु पूर्वपक्षी का यह नियम

लघुचन्द्रिका

अनुमानाकौशलेन सभाक्षोभादिना वाऽन्यथापि हेतोः प्रयोगसम्भवात्॥४॥

वस्तुतस्तु, बाधपदमसिद्धेरप्युपलक्षकम् ; विप्रतिपत्तियोग्यन्यायवाक्योक्तहेतोर्दोषस्यापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यभिचारित है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जिस समय विप्रतिपत्ति के साध्य का पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन प्रयोग हुआ है, उस समय अनुमानकर्ता की अकुशलता के कारण अथवा सभा को देखकर होने वाली व्याकुलता के कारण अन्य प्रकार से अर्थात् पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से भी हेतु का प्रयोग हो सकता है। अतः पूर्वपक्षी के उक्त नियम में व्यभिचार दोष है। इसलिए विप्रतिपत्तिकाल में पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन हेतु प्रयोग का अनुमान के बल पर ज्ञान न होने के कारण विप्रतिपत्तिकाल में हेतुमत्ताज्ञान की विरोधिनी असिद्धि का उद्भावन नहीं हो सकता है॥४॥

पूर्वोक्त समाधान में यह अरुचि है कि कथा प्रारम्भ होने से पहले ही मध्यस्थ के द्वारा वादी—प्रतिवादी की परीक्षा होती है। जो लोग अनुमान करने में कुशल होते हैं और सभा में जाकर बोल सकते हैं। उन्हीं लोगों को कथा में प्रवेश मिलता है। अतः जब विप्रतिपत्ति के साध्य का पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन प्रयोग होगा तब वहां हेतु भी पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन ही प्रयोक्तव्य है—ऐसा अनुमान तो हो जाने से विप्रतिपत्तिकाल में असिद्ध्यादि हेत्वाभासों का उद्भावन सम्भव हो जायेगा। इस अरुचि के कारण कह रहे हैं कि वस्तुतस्तु मूलस्थ बाध पद असिद्धि का भी उपलक्षक है, क्योंकि विप्रतिपत्तिवाक्य से प्रयुक्त न्याय प्रयोग (अनुमान) उसमें कथित जो हेतु है, उसका जो दोष है वह (दोष के अधिकरणीभूत हेतु वाचक पद घटित न्यायवाक्य के प्रयोजकत्व सम्बन्ध से) विप्रतिपत्ति का दोष हो ही सकता है। इसलिए मूल के अग्रिम भाग (एवं वियदादेः प्रत्येकं पक्षत्वेऽपि न घटादौ सन्दिग्धानैकान्तिकता) में सन्दिग्धानैकान्तिक हेत्वाभास में विप्रतिपत्तिदोषता की आशङ्का की गयी है। यहां पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि सन्दिग्धानैकान्तिकता को विप्रतिपत्ति का एक दोष जो मूलकार ने मानकर आशङ्का उठायी है, वह उचित नहीं है, क्योंकि जहां वियत् मिथ्या न वा—ऐसी विप्रतिपत्ति है, वहां हो सकता है कि वादी वियत्—प्रातिभासिकान्यतरत्व को हेतु बना सकता है। ऐसा हेतु वियत् और प्रातिभासिकशुक्तिरूप्यादि दोनों में रहेगा और घटादि में नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में जब घटादि में हेतु नहीं है तो घटादि में साध्य के न रहने की शङ्का होने पर भी सन्दिग्धानैकान्तिकतादोष नहीं हो सकता है, क्योंकि सन्दिग्धानैकान्तिकतादोष वहीं होता है, जहां हेतु रहता हो और साध्याभाव का सन्देह होता है। अतः मूलकार के द्वारा सन्दिग्धानैकान्तिकता को विप्रतिपत्ति का दोष मानकर आशङ्का उठाना उचित नहीं है। इसका समाधान यह है कि जहां वियत् पक्ष है वहां वियत्—प्रातिभासिकान्यतरत्व को गौरव और अप्रयोजकत्वदोष से ग्रस्त होने के कारण हेतु नहीं बनाया जा सकता है। जैसे पक्ष आकाश हो या घटादि हो, साध्य (मिथ्यात्व) और दृष्टान्त (शुक्तिरूप्यादि) तो बदलता नहीं। अतः ऐसे दृश्यत्वादि हेतु का ही प्रयोग वादी करेगा जो हेतु गौरव और अप्रयोजकत्व दोष से ग्रस्त न हो और पक्ष के बदलने पर भी वह हेतु बदलता न हो। अतः दृश्यत्व को हेतु बनाने पर घटादि में सन्दिग्धानैकान्तिकता

लघुचन्द्रिका

विप्रतिपत्तिदोषत्वसम्भवात्^१। अत एवाग्रे^२ सन्दिग्धानैकान्तिके विप्रतिपत्तिदोषत्वमाशङ्कितम्। ५॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

दोष का उद्भावन विप्रतिपत्तिकाल में ही किया जा सकता है, क्योंकि जब वियत् पक्ष है तब पक्ष से भिन्न घटादि में हेतु का निश्चय रहने पर भी विप्रतिपत्तिकाल में साध्य का निश्चय न होने के कारण साध्याभाव का संशय हो ही सकता है। इस प्रकार से हेतुगत सन्दिग्धानैकान्तिकतादोष (दोष के अधिकरणीभूत हेतु वाचक पद घटित न्यायवाक्य के प्रयोजकत्व सम्बन्ध से) विप्रतिपत्तिनिष्ठ हो ही सकता है। अतः मूलकार के द्वारा सन्दिग्धानैकान्तिकता को विप्रतिपत्ति का दोष मानकर आशङ्का उठाना उचित ही है। इस पर विस्तार से विचार विद्वत्लेशी में देखें। ५॥

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां सामान्याकारविप्रतिपत्तिवाक्यघटकपदानां व्यावृत्तिः

१. दोषाधिकरणहेतुवाचकपदघटितन्यायवाक्यप्रयोजकत्वसम्बन्धेन विप्रतिपत्तिदोषसम्भवादिति पाठान्तरम्।

२. एवं वियदादेः प्रत्येकं पक्षत्वेऽपि न घटादौ सन्दिग्धानैकान्तिकता इति अग्रिमग्रन्थेनेत्यर्थः।

मिथ्यात्वे विशेषविप्रतिपत्तिः

प्रत्येकं वा विप्रतिपत्तिः—वियमिथ्या, न वा? पृथिवी मिथ्या, न वेति? एवं वियदादेः प्रत्येकं पक्षत्वेऽपि न घटादौ सन्दिग्धानैकान्तिकता पक्षसमत्वाद् घटादेः। तथा हि—पक्षे साध्याभाव(साध्य) सन्देहस्यानुगुणत्वात् पक्षभिन्न एव तस्य दूषणत्वं वाच्यम्। अत एवोक्तं 'साध्याभावनिश्चयवति हेतुसन्देह एव सन्दिग्धानैकान्तिकता' इति। पक्षत्वं तु साध्यसन्देहवत्त्वं

लघुचन्द्रिका

अत एवोक्तमिति। प्राचीनतार्किकैरिति शेषः। नवीनतार्किकैस्तु व्याप्तिग्राहकतर्काभावे सति साध्याभाववत्त्वेन सन्दिग्धे धर्मिणि हेतुनिश्चयोऽपि व्यभिचारसंशयहेतुतया दोष एव। १॥

अत एव 'वह्निरद्विष्ठातीन्द्रियधर्मसमवायी' जनकत्वादात्मवत् इत्यादिशक्त्यादिसाधका—नुमानेषु मणावप्रयोजकत्वमुक्तम्। "तत्र व्यभिचारसंशयस्यादूषणत्वे व्याप्तिपक्षधर्मता—

सत्यानन्दप्रबोधिका

मूलस्थ "अत एवोक्तम्" स्थल पर आकांक्षा होती है कि "कैरुक्तम्?" इसके पूरक वाक्य के रूप से लघुचन्द्रिकाकार ने लिखा—प्राचीनैः। अर्थात् प्राचीन नैयायिक का मत है कि जहां साध्याभाव का निश्चय होता है और हेतु का सन्देह होता है वहां सन्दिग्धानैकान्तिकता दोष होता है। नवीन नैयायिक का मत है कि जहां हेतु का निश्चय होता है और साध्याभाव का सन्देह होता है तथा अनुकूल तर्क नहीं होता है। वहां सन्दिग्धानैकान्तिकता दोष होता है। इसी को आगे स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि नवीन तार्किकों के मत में व्याप्तिग्राहक तर्क न होने पर अर्थात् हेतु हो और साध्य न हो—इस प्रकार के विपक्ष का बाधक तर्क अथवा हेतु जहां है वहां साध्य के रहने में अनुकूल तर्क यदि प्रस्तुत नहीं किया जाता है तो धर्मी (पक्ष) में हेतु का निश्चय रहने पर भी साध्याभाववत्त्वेन सन्दिग्धधर्मी (पक्ष) में हेतु का निश्चय भी दोष ही है, क्योंकि अनुकूलतर्काभाव के कारण "यह हेतु साध्य का व्यभिचारी भी हो सकता है" इस प्रकार से संशय हो जाता है और संशय होने से निश्चयात्मक परामर्शज्ञान हो नहीं पायेगा और तब अनुमिति भी नहीं होगी। १॥

इस प्रकार से नवीनों के द्वारा अनुकूलतर्काभावकालीन साध्याभाव अंश में संशयरूप व्यभिचार ज्ञान को दोषरूप से स्वीकार करने के कारण ही चिन्तामणिकार ने मीमांसकों के द्वारा रचित शक्तिसाधक अनुमान में अप्रयोजकत्व (व्यभिचार शङ्का निराशकाऽनुकूल तर्क रहितत्व) दोष दिया है। मीमांसककृत शक्तिसाधक अनुमान का आकार है— "वह्निरद्विष्ठातीन्द्रिय—धर्मसमवायी, जनकत्वात्, आत्मवत्"। अर्थात् वह्नि में एक ऐसा अतीन्द्रिय धर्म समवेत रहता है जो दो में रहने वाला धर्म नहीं है। अद्विष्ट नहीं कहते तो आकाशवह्नि संयोग भी एक अतीन्द्रियधर्म है। इसको लेकर अर्थान्तर दोष होता और अतीन्द्रिय नहीं कहते तो वह्नि के रूप को लेकर अर्थान्तर दोष होता। "जनकत्वात्" के स्थान पर "दाहजनकत्वात्" ऐसा पाठान्तर भी है। आत्मा में स्वजनकादृष्टवत्त्व सम्बन्ध से दाहजनकत्व हेतु का भी समन्वय हो जायेगा। यहां स्व पद से दाह को लिया जाता है। यहां पर दृष्टान्त में साध्य का समन्वय

१. अतएव= अनुकूलतर्काभावकालीनस्य साध्याभावांशे संशयरूपव्यभिचारज्ञानस्य नवीनैः दोषत्वेनोपगमादेव।

२. यद्यपि नवीनतार्किकैरिति अन्वयः।

३. दाहजनकत्वादिति पाठान्तरम्।

साध्यगोचरसाधकमानाभाववत्त्वं वा। एतच्च घटादिसाधारणम्। अत एव तत्रापि सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं न दोषः, पक्षसमत्वोक्तिस्तु प्रतिज्ञाविषयत्वाभावमात्रेण। न च तर्हि प्रतिज्ञाविषयत्वमेव पक्षत्वम्, स्वार्थानुमाने तदभावात् ।

लघुचन्द्रिका

निश्चयसम्भवेनाप्रयोजकत्वोक्तेरसङ्गतेस्तस्य दूषणत्वमावश्यकम्” इति दीधितावुक्तं यद्यपि ; तथापि प्रकृते मिथ्यात्वानुमाने तर्काणां वक्ष्यमाणत्वेन न दोषः॥२॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

अदृष्टरूपधर्म को लेकर करना चाहिए और पक्ष में शक्तिरूप धर्म को लेकर साध्य का समन्वय होगा। चिन्तामणि ग्रन्थ के इस भाग की टीका दीधिति में कहा गया कि —“इस शक्तिसाधक अनुमान में यदि व्यभिचार संशय को दोष न माना जाय तब तो व्याप्ति और पक्षधर्मता का निश्चय सम्भव होने से चिन्तामणिकार के द्वारा कहा गया अप्रयोजकत्व दोष असङ्गत हो जायेगा। इसलिए व्यभिचार संशय को दूषण मानना आवश्यक है”। इस प्रकार से अनुकूल तर्क के अभाव में व्यभिचार संशय होता है और वह भी एक दोष होता है—ऐसा मान भी लिया जाय तो भी प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में एक—दो ही नहीं किन्तु अनेक अनुकूल तर्क “अनुकूलतर्कविचार” के अवसर पर दिया गया है। अतः प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में व्यभिचारसन्देहरूप उक्त दोष की सम्भावना भी नहीं हो सकती है॥२॥

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां मिथ्यात्वे विशेषविप्रतिपत्तिः

विप्रतिपत्तौ प्राचां प्रयोगाः

एवं विप्रतिपत्तौ प्राचां प्रयोगाः—विमतं मिथ्या दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात् शुक्तिरूप्यवदिति। नावयवेष्वाग्रहः ।

लघुचन्द्रिका

विमतम्=विप्रतिपत्तिविशेष्यम्। नावयवेष्वाति— ‘तत्र पञ्चतयं केचिद् द्वयमन्ये वयं त्रयम्’ इति मीमांसकोक्तरीत्या तार्किक—मीमांसक—बौद्धानां पञ्च—त्रि—द्वयवयववादित्वात्तान् प्रति यथामतमवयवाः प्रयोक्तव्याः। ‘उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्’ इति मीमांसकाः। उदाहरणो—पनयरूपद्वयवयववादिनो बौद्धा इति भावः।१॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

“विमतम्” का अर्थ विप्रतिपत्ति विशेष्य करना चाहिए न कि “विप्रतिपत्तिविषयम्”। विमत का अर्थ विप्रतिपत्तिविषय करने पर “मिथ्या न वा?” यह जो विप्रतिपत्ति का विशेषण है, वह भी विप्रतिपत्ति का विषय है। इसलिए वह भी पक्षकोटि में प्रविष्ट हो जायेगा। “प्रपञ्चो मिथ्या न वा?” यहां पर प्रपञ्च (पक्ष)=विप्रतिपत्ति का विशेष्य है और मिथ्या न वा?=विप्रतिपत्ति का विशेषण है। अद्वैतसिद्धिकार के “नावयवेष्वाग्रहः” इस कथन का आशय यह है कि न्यायवाक्य के उन अवयवों के सम्बन्ध में नैयायिक प्रतिज्ञादि पांचों अवयवों को मानते हैं। पूर्वमीमांसक तीन अवयवों को मानते हैं। उनका कथन है कि प्रतिज्ञा से उदाहरण पर्यन्त तीन अथवा उदाहरण से निगमन पर्यन्त तीन अवयव मानना उचित है। बौद्धों का कथन है कि उदाहरण और उपनय दो ही अवयव मानना उचित है। इन सभी विचारों को श्री पार्थसारथिमिश्र ने शास्त्र दीपिका में इस प्रकार से कहा है—

तत्र पञ्चतयं केचिद् द्वयमन्ये वयं त्रयम्।

उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्॥

इस प्रकार से जो वादी जितने अवयव मानता है, उस वादी के सामने हम उतने ही अवयवों का प्रयोग कर के स्व अभीष्ट अर्थ को समुचित सिद्ध कर देंगे। यही आचार्यप्रवर अद्वैतसिद्धिकार का अभिप्राय है।१॥

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां प्राचां प्रयोगाः

पक्षतावच्छेदकविचारः

अत्र स्वनियामकनियतया विप्रतिपत्त्या लघुभूतया पक्षतावच्छेदो न विरुद्धः। समयबन्धादिना

लघुचन्द्रिका

ननु—विप्रतिपत्तिमात्रस्य निवेशे सिद्धसाधन—बाधादिकम्, घटादिमात्रविशेष्यक—विप्रतिपत्तिनिवेशे प्रपञ्चमात्रस्य मिथ्यात्वासिद्धिः, तत्राह—स्वनियामकनियतयेति। स्वस्याः विप्रतिपत्तेः, नियामकम्=प्रकृतानुमानपक्षतावच्छेदकत्वयोग्यतासम्पादकं यद् ब्रह्मज्ञानान्याबाध्य—त्वादिविशिष्टविशेष्यकत्वं पूर्वोक्तम्, तेन नियतया विशेषितया; पूर्वोक्तयेति यावत्। ननु—पूर्वोक्तविप्रतिपत्तेर्ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वादिघटितरूपेण पक्षतावच्छेदके निवेशे लाघवादुक्ता—

सत्यानन्दप्रबोधिका

यद्यपि पूर्व से ही पक्षतावच्छेदक पर विचार चल रहा है तथापि यहां से पक्षतावच्छेदक पर विशेष विचार प्रारम्भ हो रहा है। पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती विप्रतिपत्ति सामान्य को पक्षतावच्छेदक कोटि में प्रवेश कर रहे है? अथवा घटादि मात्र विशेष्यक विप्रतिपत्ति को पक्षतावच्छेदक कोटि में प्रवेश कर रहे है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर शुक्तिरूप्य में सिद्धसाधन और ब्रह्म में बाधादि दोष प्रसक्त होंगे, क्योंकि “शुक्तिरूप्यं मिथ्या न वा?” “ब्रह्म मिथ्या न वा?” इस प्रकार की विप्रतिपत्ति (विमति) का विशेष्य (विमत) शुक्तिरूप्य और ब्रह्म पक्षकोटि में प्रविष्ट हो जायेंगे और तब प्रथम (शुक्तिरूप्य) में सिद्धसाधन और द्वितीय (ब्रह्म) में बाधादि दोष होंगे। यदि सिद्धान्ती द्वितीय पक्ष को स्वीकार करते हैं तब “घटो मिथ्या न वा?” इस विप्रतिपत्ति के विशेष्य घटमात्र में ही मिथ्यात्व सिद्ध होगा, प्रपञ्च मात्र में मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती। ऐसी शङ्का के निवारणार्थ मूलकार ने कहा—स्वनियामकनियतया विप्रतिपत्त्या लघुभूतया पक्षतावच्छेदो न विरुद्धः। अर्थात् अद्वैतसिद्धिकार का कथन है कि जिस किसी विप्रतिपत्ति को नहीं लेना है किन्तु वादी के द्वारा अनुमान करने से ठीक पहले मध्यस्थ ने जो विप्रतिपत्तिवाक्य का उच्चारण किया उसके जो तीन नियामक (ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व, सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्धिन्नत्व) है, उन नियामकों के द्वारा जो नियत (युक्त) है ऐसी विप्रतिपत्ति को पक्षतावच्छेदक बनाया गया है। अर्थात् विमतम् = विप्रतिपत्ति का विशेष्य = पक्ष (प्रपञ्च) और पक्षतावच्छेदक = विप्रतिपत्ति। इससे यह लाभ हुआ कि ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वादि को न कहकर केवल विप्रतिपत्ति को पक्षतावच्छेदक रूप से कहने पर लाघव है। मूल में जो पक्षतावच्छेद लिखा है, उसका अर्थ है—लघुभूत विप्रतिपत्ति रूप अवच्छेदक के द्वारा दूसरे पक्षों से इस पक्ष का अवच्छेद=विभाग=व्यावृत्ति हुयी। अद्वैतसिद्धिकार के इन सभी भावों को स्पष्ट करते हुए लघुचन्द्रिकाकार कह रहे हैं कि प्रकृत विप्रतिपत्ति का नियामक अर्थात् प्रकृत अनुमान (विमतं मिथ्या दृश्यत्वात्)। उसका पक्षतावच्छेदक है विप्रतिपत्ति। ऐसी विप्रतिपत्ति में जो प्रकृत अनुमान का पक्षतावच्छेदक बनने की योग्यता है, उस योग्यता का सम्पादक कौन है? जिसके द्वारा वह योग्यता उसमें आती है। इसके उत्तर में कहा गया है कि ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वादि तीनों से विशिष्ट जो ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यादि तीन जो पूर्व में मध्यस्थ के द्वारा कहे गये हैं। ये तीनों विशेष्य हैं जिस विप्रतिपत्ति के, वैसी विशेष्यक होने से उक्त विप्रतिपत्ति के प्रकृत अनुमान के पक्षतावच्छेदक बनने की योग्यता आयी। जब ऐसी विप्रतिपत्ति जो प्रकृत अनुमान का

व्यवधानात्तस्या अनुमानकालासत्त्वेऽप्युपलक्षणतया पक्षतावच्छेदकत्वम्। यद्वा (अथवा) विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेदकमेव' पक्षतावच्छेदकम्। प्राचां प्रयोगेष्वपि विमतमिति पदं

लघुचन्द्रिका

बाध्यत्वादिरूपस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वमुचितम्। तत्राह—लघुभूतयेति। तद्व्यक्तित्वादिरूप—लघुरूपविशिष्टयेत्यर्थः। तथाच 'ब्रह्मज्ञान' इत्याद्युक्तरूपेण परिचितपूर्वोक्तविप्रतिपत्तिव्यक्तेस्त—द्व्यक्तित्वेनैव निवेश इति भावः॥१॥

ननु—उक्ताबाध्यत्वादिरूपस्य विप्रतिपत्तिपरिचायकघटकतया' प्रथमोपस्थितत्वात्तदेव पक्षतावच्छेदकं युक्तम्, तत्राह—यद्वेति। अवच्छेदकमेवेति॥२॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

पक्षतावच्छेदक है। तब तादृशविशेष्यकत्वेन विप्रतिपत्ति में सिद्धसाधन अथवा बाधादि दोष नहीं दिया जा सकता है। अर्थात् तादृशविशेष्यकत्वेन विप्रतिपत्ति को लेने के कारण ही ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वादि से विशिष्ट ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यादि विशेष्य वाली विप्रतिपत्ति (ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यं सत्त्वेन प्रतीत्यहं चिद्भिन्नं मिथ्या न वा?) को ही लिया जा सकता है। "शुक्तिरूप्यं मिथ्या न वा?" "ब्रह्म मिथ्या न वा?" ऐसी विप्रतिपत्ति को नहीं लिया जा सकता है। अतः पूर्वोक्त सिद्धसाधनादिदोष नहीं आयेंगे। इस पर शङ्का होती है कि सिद्धान्ती ने सामान्यरूप से विप्रतिपत्तिमात्र को सिद्धसाधनादिदोष के भय के कारण पक्षतावच्छेदक नहीं बनाया, किन्तु उक्त विशेष्यकत्वेन विप्रतिपत्ति को पक्षतावच्छेदक बनाया। परन्तु उक्त विशेष्यकत्व तो ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वादि से घटित है। इसलिए उक्त ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वादि तीनों को ही पक्षतावच्छेदक बनाने में लाघव है, क्योंकि उन तीनों से घटित विप्रतिपत्ति को पक्षतावच्छेदक बनाने पर गौरव होगा। इसके समाधान में मूलकार ने कहा—लघुभूतया। यद्यपि प्रकृत अनुमान में पक्षतावच्छेदक जो विप्रतिपत्ति है, वह ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वादि से घटित है। इसलिए ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वादि का नाम लेकर सम्पूर्ण विप्रतिपत्ति का उल्लेख करने पर गौरव दोष होगा तथापि ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वादि का परिचय तो मध्यस्थ के द्वारा कह देने से पहले ही प्राप्त हो चुका है। अतः इस समय उनका पुनः नाम न लेकर पूर्वपरिचित विप्रतिपत्ति का तद्व्यक्तित्वेन पक्षतावच्छेदक में प्रवेश किया जाता है। इसलिए गौरव नहीं है, किन्तु लाघव ही है॥१॥

यद्यपि शरीर लाघव के कारण विप्रतिपत्ति को पक्षतावच्छेदक कहा गया तथापि शरीर लाघव की अपेक्षा से प्रतिपत्ति गौरव होने के कारण विप्रतिपत्ति को पक्षतावच्छेदक मानना उचित नहीं है, क्योंकि शब्दगौरव की अपेक्षा से प्रतिपत्तिगौरव को अधिक दोषप्रद माना जाता है। ऐसी शङ्का सुगम होने के कारण इस शङ्का को न उठाकर दूसरी शङ्का को उठाते हुए कह रहे हैं कि विप्रतिपत्ति के परिचायक मध्यस्थ के द्वारा कथित तीनों विशेषण (ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वादि) प्रथम उपस्थित हैं। इसलिए उन्हीं को पक्षतावच्छेदक के रूप से स्वीकार करना उचित है। इस अरुचि के कारण अद्वैतसिद्धिकार ने कहा—यद्वा विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेदकमेव पक्षतावच्छेदकम्। अर्थात् विप्रतिपत्ति का विषय=(विशेष्य) ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यादि। अतः विप्रतिपत्ति की विषयता ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यादि में। इसलिए विप्रतिपत्ति की विषयता का अवच्छेदक ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वादि। अतः ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वादि ही पक्षतावच्छेदक हो जायेंगे॥२॥

१. विषयतेति—विशेष्यतेत्यर्थः। तदवच्छेदकं चिद्भिन्नत्वान्तम्। २. परिचायकतयेति पाठान्तरम्

विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नाभिप्रायेणेत्यदोषः।

लघुचन्द्रिका

भट्टभास्करमते शुक्तिरूप्यादेः सत्यस्य शुक्त्यादावुत्पत्तिस्वीकारात्तदनुयायिना^१ केनचिद् यदि तस्य मिथ्यात्वमुच्यते^२, तदा तेन सह विप्रतिपत्तौ तस्यामबाध्यत्वान्तमेव पक्षविशेषणम्; तथा च न तं प्रति सिद्धसाधनम्। तादृशस्य कस्यचिदभावेऽपि^३ दृष्टान्तसिद्धये शुक्तिरूप्यादौ मिथ्यात्वस्य प्रकृतानुमानात् पूर्वं प्रसाध्यत्वात् तत्र सिद्धसाधनवारणाय तद्विशेषणं देयमेव। यदा त्ववच्छेदकावच्छेदेनानुमितिमुद्दिश्य विप्रतिपत्तिस्तार्किकादिना सह, तदेतरविशेषणे एव देये।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रश्न होता है कि ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व को पक्षकोटि में निवेश करने का प्रयोजन क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है कि शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिक पदार्थों को पक्षकोटि में प्रवेश करने से रोकना ही प्रयोजन है। पुनः प्रश्न हुआ कि पक्षकोटि में शुक्तिरूप्यादि के प्रवेश को रोकने का क्या प्रयोजन है? इसके समाधान में कहा गया कि जहां पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धि उद्देश्य है, वहां पक्षान्तर्गत शुक्तिरूप्यादि में सिद्धसाधनदोष हो जायेगा। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि जितने पूर्वपक्षी हैं वे सभी शुक्तिरूप्य को मिथ्या नहीं मानते हैं। भट्टभास्कर के मत में शुक्ति से सत्य रजत की उत्पत्ति होती है, क्योंकि भट्टभास्कर के मतानुसार शुक्ति में ही सत्य रजत के अवयव होते हैं। अतः शुक्तिरूप्यादि में भी मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए उसको (शुक्तिरूप्यादि को) पक्षकोटि में प्रवेश करने ही देना चाहिए। इसलिए ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व भाग व्यर्थ है। इसके समाधान में कह रहे हैं कि यदि भट्टभास्कर का कोई अनुयायी शुक्ति में रजत की उत्पत्ति तो मानता है किन्तु रजत को सत्य न मानकर मिथ्या मानता हो तो उसके साथ विप्रतिपत्ति होने पर विप्रतिपत्ति में अबाध्यत्वान्त ही पक्ष का विशेषण देना चाहिए। ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व विशेषण देने से शुक्ति में रजत को मिथ्या मानने वाला भट्टभास्कर का अनुयायी शुक्तिरूप्य में सिद्धसाधनदोष का उद्भावन नहीं कर सकता है, क्योंकि शुक्तिरूप्य पक्ष में प्रविष्ट ही नहीं है। सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्भिन्नत्व इन दोनों विशेषणों को नहीं देना चाहिए, क्योंकि पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धि उद्देश्य स्थल पर तुच्छ और ब्रह्म में सामानाधिकरण्येन बाधदोष नहीं माना जाता है अपितु पक्षतावच्छेदावच्छेदेन बाध होने पर ही बाधदोष माना जाता है। अतः तुच्छ और ब्रह्म में बाध—दोष निवारणार्थ उक्त दोनों विशेषणों को देना व्यर्थ है। दूसरी बात यह है कि शुक्ति में रजत को मिथ्या मानने वाला भट्टभास्कर का अनुयायी न होने पर भी मिथ्यात्वानुमान के दृष्टान्त की सिद्धि के लिए शुक्तिरूप्यादि किसी भी स्थल पर प्रपञ्च गतमिथ्यात्वसाधक अनुमान से पहले मिथ्यात्व सिद्ध करना ही होगा। जैसे “शुक्तिरूपं मिथ्या, शुक्तिज्ञानबाध्यत्वात्, यन्नैव तन्नैव यथा आत्मा” और तब शुक्तिरूप्यादि में सिद्धसाधनता वारण के लिए ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व भाग को देना ही होगा। जब पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन पक्ष में साध्यसिद्धि के उद्देश्य से तार्किकादि के साथ विप्रतिपत्ति होती है तब अबाध्यत्वान्त विशेषण नहीं देना चाहिए, क्योंकि तार्किकादि के द्वारा शुक्तिरूप्यादि को मिथ्या मानने पर भी पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धि स्थल पर

१. भट्टभास्करेण सह विवादे ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्ववैयर्थ्येऽपीतिशेषः।

२. स्वीक्रियते।

३. अपिस्त्वर्थकः

लघुचन्द्रिका

तत्राप्यलीकवादिनं प्रत्येवार्हान्तविशेषणं देयम्। एकदा तु न द्वाभ्यां सह विप्रतिपत्तिः ; तथैव कथकानां सम्प्रदायात्। तथाच यदेव यं प्रति विप्रतिपत्तौ पक्षविशेषणम्, तदेव तं प्रति न्यायप्रयोग इति भावः॥३॥

ननु—सत्त्वेन प्रतीतियोग्यत्वं सद्व्यपत्तितादात्म्यं घटादौ व्यावहारिकम् ; घटादितुल्यकक्ष्यत्वात्, शशविषाणादावलीके तु प्रातीतिकं सम्भवति ; अनध्यस्तोऽप्यलीके सत्तादात्म्यस्यारोपसम्भवात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धि रहने पर भी सिद्धसाधन नहीं होता है। अतः शुक्तिरूप्य के पक्ष में प्रविष्ट हो जाने पर भी सिद्धसाधन दोष नहीं होगा। परन्तु पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धि (अनुमिति) के प्रति पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्याभाव का निश्चय होने से बाधदोष होगा। अतः ब्रह्म और तुच्छ को पक्षकोटि से बाहर निकालने के लिए इतर विशेषण द्वय को देना ही चाहिए। जो सत्य और मिथ्या से भिन्न अलीक भी एक पदार्थ होता है—ऐसा मानता है। उसके प्रति अनुमान करते समय ही तुच्छ में बाधदोष के निवारणार्थ सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वं यह विशेषण देना चाहिए। अर्थात् जो सत्य और मिथ्या ही मानने वाले हैं, उनके प्रति तो चिद्भिन्नत्व मात्र ही विशेषण देना चाहिए। कहने का आशय यह है कि जो सत्य और मिथ्या मानने वाले हैं, अलीक मानने वाले नहीं हैं, उनके प्रति ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व और चिद्भिन्नत्व इन दोनों विशेषणों को देना चाहिए, सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वं विशेषण नहीं देना चाहिए। इसमें हेतु देते हुए कह रहे हैं कि एक ही समय में दो वादियों के साथ शास्त्रार्थ होता नहीं है, इसलिए सभी विशेषणों की आवश्यकता एक साथ होती नहीं है। अपितु कथक—सम्प्रदाय की यह मर्यादा है कि एक काल में एक ही वादी के साथ शास्त्रार्थ होता है। इसलिए जिसके प्रति विप्रतिपत्ति में जो पक्ष का विशेषण दिया जाता है, उसके प्रति उस पक्ष विशेषण के अनुसार ही न्याय का प्रयोग किया जाता है, यही भाव है॥३॥

सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वं=सत्त्वेन प्रतीतियोग्यत्वं=सद्व्यपत्तितादात्म्य का तादात्म्य। अर्थात् घटादि जड़ होने के कारण उसमें सत्त्वेन प्रतीति की योग्यता नहीं है, किन्तु जब चैतन्य के साथ तादात्म्या—ध्यास हो जाता है, तब घटादि जड़ पदार्थों में भी सत्त्वेन प्रतीति योग्यता आ जाती है। अतः सत्त्वेन प्रतीति योग्यता=सद्व्यपत्तितादात्म्य का तादात्म्य। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे घट व्यावहारिक है वैसे ही घट में रहने वाला सत्तादात्म्य भी व्यावहारिक है। इसी प्रकार शुक्तिरूप्य के प्रातिभासिक होने के कारण शुक्तिरूप्य में रहने वाला सत्तादात्म्य भी प्रातिभासिक है। किन्तु अलीक न तो व्यावहारिक है और न तो प्रातिभासिक है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से अलीक में व्यावहारिक या प्रातिभासिक सत्तादात्म्य न मानने पर भी धर्म के आरोप में धर्मी का निश्चयात्मक ज्ञान होना अपेक्षित न होने के कारण यदि किसी को भ्रम से “शशविषाणं सत्” ऐसी प्रतीति हो गयी तो वहां अलीक में प्रातिभासिक सत्तादात्म्य मानना पड़ेगा। तब सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वं विशेषण के द्वारा पक्षकोटि से अलीक पदार्थ बहिर्भूत हो नहीं सकता। अतः पक्षकोटि से अलीक को बहिर्भूत करने के लिए जो विशेषण दिया गया था, वह व्यर्थ सिद्ध हो गया। अतः अलीक को पक्षकोटि से बहिर्भूत करने के लिए दूसरा विशेषण देना पड़ेगा।

लघुचन्द्रिका

‘यदि पुनः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन’ इत्यादिमूलानुरोधात् शुक्तिरूप्यादिप्रातीतिकसाधारणस्य सत्तादात्म्यस्य निवेश्यत्वादिति—चेत् ॥४॥

न, तत्रैव हि सत्तादात्म्याध्यासः, यस्य’ तत्समानकालमध्यासः ; शुक्तिरूप्यादिरूपेण परिणममानाविद्याया एव तन्निष्ठेन सत्तादात्म्यरूपेण परिणममानत्वात्। तथाचालीकरूपेणाविद्याया

सत्यानन्दप्रबोधिका

यदि नहीं देंगे तब अलीक में साध्याभाव का निश्चय होने से बाधदोष होगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि चित्तादात्म्य से व्यावहारिक चित्तादात्म्य लेना ही हमें अभीष्ट है। अतः अलीक में व्यावहारिक चित्तादात्म्य न रहने के कारण अर्हान्त विशेषण से अलीक पक्षकोटि से बहिर्भूत हो जायेगा। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि मूल के अर्हान्त विशेषण के अनुरोध से आपको व्यावहारिक—प्रातीतिक उभयसाधारण चित्तादात्म्य लेना पड़ेगा। अर्थात् “यदि पुनः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन” इत्यादि मूल के अनुरोध से यह जो अर्थ होता है कि जहां पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धि उद्देश्य है, वहां शुक्तिरूप्यादि पक्ष के एक भाग में सिद्धसाधनदोष नहीं होता है। अतः उसके निवारणार्थं ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व विशेषण की आवश्यकता नहीं है किन्तु बाधदोष के निवारण के लिए इतरद्वयविशेषण देना चाहिए। अद्वैतसिद्धिकार का उक्त कथन असङ्गत हो जायेगा क्योंकि जब सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व से व्यावहारिकचित्तादात्म्य ही लिया जा रहा है, तब पक्षकोटि में शुक्तिरूप्यादि प्रविष्ट ही नहीं होंगे, “तब उसमें (पक्षकोटि में) प्रविष्ट शुक्तिरूप्यादि में) सिद्धसाधानादि नहीं है और उसके वारण के लिए अबाध्यत्वान्त विशेषण देना व्यर्थ है” यह सब कथन मूलकार का असङ्गत हो जायेगा। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि व्यावहारिकचित्तादात्म्य और प्रातिभासिकचित्तादात्म्य दोनों को ही अर्हान्त विशेषण के द्वारा लेना पड़ेगा। तब अर्हान्त विशेषण के द्वारा शुक्तिरूप्यादि पक्षकोटि से बहिर्भूत होगा नहीं। अतः मूल में जो कहा गया कि अबाध्यत्वान्त पद न देने पर भी पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अनुमिति के समय शुक्तिरूप्यादि पक्ष में प्रविष्ट हों तो भी सिद्धसाधन दोष नहीं होगा— यह मूलकार का कथन सङ्गत हो जायेगा, किन्तु अर्हान्त विशेषण देने पर भी बाधोद्धार नहीं हुआ, क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से (अर्थात् अलीक में भी प्रातिभासिक सत्तादात्म्य सम्भव होने से) पक्षकोटि में अलीक प्रविष्ट हो गया है और अलीक में बाध होगा ही। यही पूर्वपक्षी का भाव है ॥४॥

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सत्तादात्म्य का अध्यास उसी धर्मी (शुक्तिरूप्यादि) में होता है, जिस धर्मी का सत्तादात्म्याध्यास के समानकाल में ही अध्यास होता है। अर्थात् सिद्धान्ती के अनुसार यह नियम बना—“यत्रकाले शुक्तिरूप्यादिरूपेणाविद्यापरिणामः तत्र काले तादात्म्यरूपेणाविद्यापरिणामः”। अर्थात् अविद्या जब किसी पदार्थ के रूप से परिणत हो जाती है, उसी समय उस पदार्थ में रहने वाले सत्तादात्म्य के रूप से भी परिणत हो जाती है। जब तक किसी पदार्थ की उत्पत्ति ही नहीं होती है तब तक उसमें किसी धर्म की उत्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती है। यद्यपि नैयायिक घट को एक क्षण निर्गुणादि मानता है किन्तु नैयायिक के उक्त नियम को सिद्धान्त मत में माना नहीं जाता

लघुचन्द्रिका

अपरिणममानत्वान्नालीकनिष्ठतादात्म्यरूपेण परिणामः। नच—स्फटिकादिरूपेणापरिणममानाया अप्यविद्यायाः स्फटिकादिनिष्ठेन जपाकुसुमादिलौहित्यतादात्म्यादिरूपेण परिणामदर्शनादलीक—रूपेणापरिणताऽप्यविद्या तन्निष्ठेन सत्तादात्म्यरूपेण परिणमतामिति—वाच्यम् ; तादात्म्यमात्ररूपेण परिणामस्य तथा छष्टत्वेऽपि सत्तादात्म्यरूपेण परिणामस्य तदनुयोगिरूपेण परिणममानाविद्या—

सत्यानन्दप्रबोधिका

है, अपितु घट की उत्पत्ति के साथ ही उसमें अस्तित्व और गुणादि आ जाता है— ऐसा माना जाता है। प्रकृत में अविद्या व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थों के रूप से परिणत होती है। अतः उन दोनों में चित्तादात्म्य का भी अध्यास माना जाता है। अलीकरूप से अविद्या परिणत नहीं होती है। अतः अलीक में चित्तादात्म्याध्यास भी नहीं माना जाता है। अतः पक्षकोटि में सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व का उल्लेख होने से अलीक पक्षकोटि से बहिर्भूत हो जायेगा, इसलिए अलीक में बाधदोष भी नहीं होगा। पूर्वपक्षी उक्त नियम में व्यभिचारदोष देते हुए कह रहा है कि स्फटिकादिरूप से अपरिणममान होती हुयी तूला अविद्या स्फटिकादिनिष्ठजपाकुसुमादि लौहित्यतादात्म्य रूप से परिणत होती है। अर्थात् यद्यपि स्फटिक भी अविद्या का परिणाम है, तथापि वह मूला—अविद्या का परिणाम है, परन्तु स्फटिकनिष्ठजपालौहित्यतादात्म्य तूला—अविद्या का परिणाम है। मूला—अविद्या का परिणाम और तूला—अविद्या के परिणामों में अन्तर यह होता है कि जिसका ब्रह्मज्ञान से अन्य ज्ञान से निवृत्ति नहीं होती है, वह मूलाविद्या का परिणाम है और जिसकी ब्रह्मज्ञान से अन्य ज्ञान से निवृत्ति होती है। वह तूलाविद्या का परिणाम है। प्रकृत में जपाकुसुम के हट जाने से स्फटिकगत शौक्ल्य का ज्ञान हो जाने से स्फटिकगत जपालौहित्यतादात्म्य की निवृत्ति हो जाती है। अतः लौहित्यतादात्म्य को तूलाविद्या का कार्य और प्रातिभासिक मानना पड़ेगा। किन्तु ब्रह्मज्ञान से अन्य ज्ञान से बाध्य न होने के कारण स्फटिक व्यावहारिक है। इस प्रकार से तूलाविद्या का परिणाम स्फटिक नहीं है किन्तु स्फटिकगत लौहित्यतादात्म्यरूपेण तूलाविद्या परिणत होती है। इसी प्रकार अविद्या का अलीकरूप से परिणाम न होने पर भी अलीकनिष्ठ सत्तादात्म्यरूपेण अविद्या का परिणाम हो ही सकता है। अतः सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व कहने पर भी पक्षकोटि में अलीक प्रविष्ट हो जायेगा और तब बाधदोष होगा— यही पूर्वपक्षी का भाव है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्वरूपेण अविद्या का परिणाम न होने पर भी तन्निष्ठ तादात्म्यरूपेण अविद्या का परिणाम होता है— ऐसा स्फटिक में जपाकुसुम लौहित्यतादात्म्य स्थल पर देखा गया है किन्तु हम अविद्या के तादात्म्यमात्र के परिणाम को नहीं कह रहे हैं अपितु अविद्या के सत्तादात्म्य रूप में परिणाम को ही कह रहे हैं। अतः अविद्या जब किसी पदार्थ के रूप से परिणत होती है, उसी समय उस पदार्थ में रहने वाले सत्तादात्म्य के रूप से भी परिणत होती है— इस नियम में कोई भी दोष नहीं है। अर्थात् सिद्धान्ती का कथन है कि जिस अविद्या का घटादि रूप से परिणाम है, उसी अविद्या का ही घटनिष्ठ सत्तादात्म्य रूप से परिणाम होता है—ऐसा ही नियम माना जाता है। सत् से भिन्न किसी अन्य का तादात्म्य नहीं लिया जाता है। इसलिए सत् से भिन्न जपाकुसुमगत लौहित्य के तादात्म्य को लेकर दोष नहीं दिया जा सकता है। इस प्रकार सिद्धान्ती के कथनानुसार यह नियम बना—“यः सत्प्रतियोगिकतादात्म्यरूपेणाऽविद्यापरिणामः, स सत्तादात्म्यानुयोगिरूपेण परिणममानाविद्यावृत्तिः”। (सत्तादात्म्य का अनुयोगी=अविद्याका घटादिरूप

लघुचन्द्रिका

निष्ठत्वनियमाविधातात् । ५॥

नच—सत्प्रतियोगिकतादात्म्यस्योक्तनियमस्वीकारेऽपि सदनुयोगिकस्यालीकप्रतियोगिकता—
दात्म्यस्याविद्यापरिणामत्वमास्तामिति वाच्यम् ; ‘सदलीकम्’ इति प्रतीत्यभावेना—
विद्यायास्तादृशपरिणामे हेतुत्वाकल्पनात् । अत एव “शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः”

सत्यानन्दप्रबोधिका

परिणाम। वह अविद्या जिस रूप से परिणत होगी तन्निष्ठ सत्तादात्म्य रूप से भी वही अविद्या परिणत हो जाती है। प्रकृत में सत्तादात्म्य का अनुयोगी अलीक जिसे पूर्वपक्षी स्वीकार करके दोष दे रहा है, उस अलीकरूप से अविद्या का परिणाम होता नहीं है। अतः अलीकनिष्ठसत्तादात्म्यरूप से भी अविद्या का परिणाम नहीं हो सकता है। इसलिए सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व कहने से पक्षकोटि में अलीक का प्रवेश न होने से बाधदोष नहीं होगा। यही सिद्धान्ती का आशय है । ५॥

“घटः सन्” “सन् घटः” दोनों प्रकार की प्रतीति होती है। घटानुयोगिकसत्प्रतियोगिक—तादात्म्यरूपेण अविद्या परिणत होती है— इसमें “घटः सन्” यह प्रतीति प्रमाण है। सदनुयोगिकघटप्रतियोगिकतादात्म्यरूपेण अविद्या परिणत होती है— इसमें “सन् घटः” यह प्रतीति प्रमाण है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती ने सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व का अर्थ किया है—सत्तादात्म्य। उसमें सत् अनुयोगी भी हो सकता है और सत् प्रतियोगी भी हो सकता है। अतः सत्प्रतियोगिक तादात्म्य के परिणाम में अनुयोगिरूप से विपरिणममानाविद्यावृत्तित्व के नियम को स्वीकार करने पर “अलीकं सत्” ऐसी प्रतीति के आधार पर पक्षकोटि में अलीक के प्रवेश न होने के कारण बाधदोष न होने पर भी अर्थात् सत्प्रतियोगिकतादात्म्य के परिणाम को तादृशतादात्म्य के अनुयोगी रूप से परिणममानाविद्यावृत्ति माना जाता है— ऐसा नियम सिद्धान्ती ने स्वीकार किया है। उस नियम के बल पर सत्प्रतियोगिकतादात्म्य के अनुयोगि अलीकरूप से अविद्या का परिणाम न होने के कारण अलीक में सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व के न जाने से पक्षकोटि में अलीक का प्रवेश न होने के कारण बाधदोष न होने पर भी सदनुयोगिकालीकप्रतियोगिकतादात्म्य के रूप से अविद्या का परिणाम हो ही सकता है। ऐसा होने पर अलीक में सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व के चले जाने के कारण पुनः पक्षकोटि में अलीक का प्रवेश हो जाने से बाधदोष होगा। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि “अलीकं सत्” ऐसी प्रतीति न होने के कारण अलीकानुयोगिकसत्प्रतियोगिक—तादात्म्यरूपेणाविद्यापरिणाम जैसे अप्रामाणिक है वैसे ही “सदलीकम्” इस प्रकार की प्रतीति न होने के कारण सदनुयोगिकालीक प्रतियोगिकतादात्म्यरूपेणाविद्यापरिणाम भी अप्रामाणिक है, क्योंकि “सदलीकम्” यह प्रतीति प्रामाणिक है— इसमें पूर्वपक्षी कोई प्रमाण नहीं दे सकता है। इस प्रकार से यह सिद्ध हो गया है कि अलीकानुयोगिकसत्प्रतियोगिकतादात्म्य और सदनुयोगिक अलीकप्रतियोगिकतादात्म्य दोनों में से किसी को भी माना नहीं जा सकता। अतः ऐसी प्रतीतियों के आधार पर पक्षकोटि में अलीक का प्रवेश न होने के कारण बाधदोष नहीं होगा। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि किसी को भ्रम से “सदलीकम्” इस प्रकार के सदनुयोगिक अलीकप्रतियोगिकतादात्म्य का ज्ञान हो जाय तब वही भ्रम ज्ञान उक्त तादात्म्य मानने पर प्रमाण हो जायेगा। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा

लघुचन्द्रिका

इति पातञ्जलसूत्रे शब्दमात्रजन्यस्यालीकाकारधीरूपविकल्पस्य सद्रूपविषयकत्वरूपं वस्तुशून्यत्वमुक्तम्। अत एव “प्रमाण विपर्यय—विकल्प—निद्रा—स्मृतयः” इति वृत्तिविभाजके पातञ्जलसूत्रे विकल्पात् पृथग् विपर्ययस्योक्तिः ; तस्य सद्रूपविषयकत्वेन वस्तुशून्यत्वाभावात्, पातञ्जलमतोऽन्यथाख्यातिस्वीकारेण सत्ये विशेष्ये देशान्तरस्थसत्यविशेषणस्य भ्रमे भानात्। किञ्च सत्प्रतियोगिकतादात्म्यस्य प्रकृते पक्षतावच्छेदके निवेशादलीकप्रतियोगिकतादात्म्यमादाय नोक्तदोषः॥६॥

ननु—माध्वादिमते शुक्तिरूप्यादेरलीकतास्वीकारात् ‘इदं रूपं सत्’ इत्याकारभ्रमेण तत्र

सत्यानन्दप्रबोधिका

कथित उक्त प्रकार का ज्ञान एक प्रकार की विकल्पात्मक मानसवृत्ति होती है, उसको ज्ञान शब्द से नहीं कहा जा सकता है। इसलिए उक्त तादात्म्य में उसको प्रमाण रूप से भी उपस्थापित नहीं किया जा सकता है। इसी को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि “सदलीकम्” तथा “अलीकं सत्” इन प्रतीतियों के अभाव होने के कारण पातञ्जलयोगसूत्र में सूत्रकार ने कहा है—“शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः” (यो.सू. १-९) अर्थात् शशविषाणादि शब्दज्ञान से उत्तरभावी अर्थात् जन्य वस्तुशून्यवृत्ति को विकल्प कहते हैं। अर्थात् “शशविषाणम्” इस प्रकार श्रवण से जो श्रोत्रजप्रत्यक्ष होता है, उसके अनन्तर जो शाब्दबोध के जैसे शशविषाण की मानसवृत्ति होती है, वह वस्तुशून्य वृत्ति होती है, उस वृत्ति को ही विकल्प कहते हैं। (जिस वृत्ति के विषय का कोई अस्तित्व ही नहीं होता है उस वृत्ति को विकल्पात्मक वृत्ति कहते हैं—यह भाव है)। अतः सिद्ध हो गया कि शशविषाणादि शब्दमात्र से जन्य अलीकाकारवृत्तिरूपविकल्प को सत्तादात्म्यरूपवस्तु से शून्य ही मानना पड़ेगा। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि विकल्प और विपर्यय एक ही होता है। अतः जब सिद्धान्त मत में विपर्यय “सत् रजतम्” हो सकता है, तब “सदलीकम्” भी हो सकता है, तब पूर्वोक्त प्रकार से पक्षकोटि में अलीक के प्रवेश हो जाने से बाधदोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि विपर्यय और विकल्प अभिन्न नहीं होते हैं, अपितु भिन्न—भिन्न होते हैं। इसको स्वयं ही पातञ्जलसूत्र में सूत्रकार ने कहा है। इसी को स्पष्ट करते हुए लघुचन्द्रिकाकार कह रहे हैं कि विकल्प वस्तुशून्य होने के कारण ही “प्रमाण—विपर्यय—विकल्प—निद्रा और स्मृति; इस प्रकार से पांच प्रकार की वृत्ति होती है।” इस वृत्ति विभाजक पातञ्जल सूत्र में विकल्प से पृथक् विपर्यय का कथन किया गया है, क्योंकि विपर्यय (भ्रम) का विषय सत् पदार्थ होता है, क्योंकि पातञ्जलमत में अन्यथाख्याति मानी जाती है। अतः इस मत में शुक्ति में हट्टस्थ सत्य रजत का ही भान माना जाता है। इसलिए वह वस्तुशून्य नहीं होता है, जबकि विकल्प का विषय वस्तुशून्य होता है। “तुष्यतु दुर्जनः” इस न्याय का अनुसरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि “सदलीकम्” अर्थात् अलीकप्रतियोगिकसदनुयोगिकतादात्म्य की प्रतीति को यदि स्वीकार भी कर ले तो भी दोष नहीं होगा, क्योंकि प्रकृत अनुमान के पक्षतावच्छेदक जो सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व है, उससे सत्प्रतियोगिकतादात्म्य ही हमें विवक्षित है। अतः पूर्वपक्षी अलीकप्रतियोगिकतादात्म्य को लेकर पक्षकोटि में अलीक को प्रविष्ट करके बाधदोष नहीं दे सकता है॥६॥

यदि कोई शङ्का करता है कि माध्वमत से सम्बन्धित न्यायामृत का खण्डन अद्वैतसिद्धि में किया गया है और अद्वैतमत का विरोधी द्वैतमत है। यहां पर द्वैतमत वादी—माध्वादि के

लघुचन्द्रिका

सत्प्रतियोगिकतादात्म्यावगाहनान्माध्वादीन् प्रति न्यायप्रयोगे बाधः ; सदसद्विलक्षणत्वादिसाध्यस्य तत्राभावात्, नचाबाध्यत्वान्तविशेषणेन तस्य वारणम् ; अलीकस्य ज्ञानोच्छेद्यतारूपज्ञान-बाध्यत्वाभावात्, इति-चेत् ॥७॥

न, तन्मते भ्रमस्यासत्ख्यातित्वस्वीकारेणानिर्वचनीयख्यात्यनभ्युपगमेन तादात्म्यादिसम्बन्ध-स्याप्यलीकस्यैव भ्रमे भानात्, अनलीकस्य भानस्वीकारे तस्य सद्रूपत्वेनात्यन्ता-

सत्यानन्दप्रबोधिका

साथ विचार चल रहा है किन्तु माध्वादि के मत में शुक्तिरूप्य को अलीक माना जाता है। अतः “शशविषाणं सत्” इस प्रकार की प्रतीति न होने के कारण शशविषाण में सत्प्रतियोगिक तादात्म्य न माना जाय किन्तु “इदं रूप्यं सत्” इत्याकारक भ्रम ज्ञान से “रूप्यं सत्” इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति के आधार पर शुक्तिरूप्य रूप अलीक में सत्प्रतियोगिक तादात्म्य स्वीकार करना पड़ेगा, जबकि सिद्धान्ती को सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व से सत्प्रतियोगिकतादात्म्य ही लेना अभीष्ट है। अतः इस पक्षतावच्छेदक के शुक्तिरूप्यात्मक अलीक में रहने के कारण शुक्तिरूप्यादि अलीक पदार्थ भी पक्षकोटि में प्रविष्ट हो गये किन्तु उनमें साध्य नहीं है, क्योंकि सदसद्विलक्षणत्व ही मिथ्यात्व का लक्षण है और अलीक तो असत् होता है न कि असद् विलक्षण। अतः सदसद्विलक्षणत्व रूप मिथ्यात्व के अभाव का निश्चय अलीक में रहने के कारण बाधदोष हो गया। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि शुक्तिरूप्य ब्रह्मज्ञानेतर ज्ञान से बाध्य है, अबाध्य नहीं है। अतः जब माध्वादि के साथ विचार होगा तब अबाध्यत्वान्त विशेषण देंगे और तब अबाध्यत्वान्त विशेषण के द्वारा ही शुक्तिरूप्य का पक्षकोटि में प्रवेश रोक दिया जायेगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अबाध्यत्वान्त विशेषण के द्वारा असत् शुक्तिरूप्यादि को पक्षकोटि से पृथक् नहीं किया जा सकता है, क्योंकि माध्वमत में शुक्तिरूप्य को अलीक माना जाता है और अलीक का ज्ञान से उच्छेद नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञान अपने समान विषयक अज्ञान और उससे प्रयुक्त दृश्यान्तर का ही उच्छेदक होता है और अलीक न तो अज्ञानस्वरूप है और न अज्ञानप्रयुक्त दृश्यान्तर है। दूसरी बात यह है कि अलीक का कुछ अस्तित्व (प्रातिभासिकादि सत्त्व) होता तब उसका ज्ञान से उच्छेद होता। ज्ञानोच्छेद्यता ही ज्ञानबाध्यता है। अतः अलीक शुक्तिरूप्य में ज्ञानबाध्यता न होने के कारण अलीक शुक्तिरूप्य में ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व ही है। अतः ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व को पक्ष के विशेषण के रूप से देने पर भी अलीक शुक्तिरूप्यादि पक्षकोटि में प्रविष्ट हो जायेंगे, ऐसा होने पर बाधदोष होगा ॥७॥

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए तथा लघुचन्द्रिकाकार के भावों को स्पष्ट करते हुए पण्डितप्रवर श्रीविट्ठलेश उपाध्यायजी का युक्तियुक्त कथन है—“यद्यपि नेयं बाधशङ्का युक्ता। यत्र मतद्वये साध्यविरहः तत्रैव हि बाधः। यथा सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वचिन्निवृत्त्ययोरनुपादाने तुच्छे ब्रह्मणि च बाधः। शुक्तिरूप्ये तु माध्वमते साध्यविरहेऽपि स्वमते तस्यालीकत्वास्वीकारेण साध्यभावात् स्वयमनुमाने तं प्रति तत्साध्यं साधयितुं युक्तमेव। अतएव वियदादिप्रपञ्चेऽसत्यतासाधने परमते न बाधः, तथापि समाधानान्तरस्यापि सौकर्यादाह—तन्मत इत्यादि।” कहने का तात्पर्य यह है कि जहां उभयमत से पक्ष में साध्याभाव निश्चित होता है वहां ही बाधदोष माना जाता है। यदि एकवादी के मत से साध्याभाव का निश्चय होने पर बाधदोष माना जाय तब तो सर्वत्र ही बाधदोष होगा, क्योंकि जिसके प्रति अनुमान किया जाता है, वह तो पक्ष में साध्य को

लघुचन्द्रिका

भावप्रतियोगित्वप्रत्ययानुपपत्तेः, अलीकस्यैव तन्मतेऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, रूप्यादेरप्यलीकान्यत्वापत्त्याऽधिष्ठानान्यभ्रमविषयस्यालीकत्वनियमाच्च सत्स्वरूपस्यैव तादात्म्यस्य तत्र भावेऽलीकरूप्यादौ तदनुयोगित्वाभावात्, अलीके रूप्यादिनिष्ठे तादात्म्ये सत्प्रतियोगिकत्वस्येव सद्रूपेऽलीकानुयोगिकत्वस्याभावात्, सदसतोरुपरागाभावात्, शुक्तिरूप्यादौ सत्प्रतियोगिकतादात्म्यानुयोगित्वरूपपक्षतावच्छेदकाभावेन तत्र बाधोक्त्यसम्भवात्, वक्ष्यमाणरीत्या सदसदभिन्नत्वस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

मानता नहीं है। अतः वह तत्क्षण ही कह देगा कि इस अनुमान में बाधदोष है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा खण्ड संख्या सप्तम में दिया गया बाधदोष अनुचित है, फिर भी आचार्यप्रवर पूर्वपक्षी के उक्त बाधदोष को मानकर समाधान देते हुए कह रहे हैं कि माध्वादि के मत में भ्रम को असत्ख्यातिरूप माना जाता है न कि सिद्धान्ती के मत के जैसे भ्रम को अनिर्वचनीयख्याति रूप माना जाता है। अतः माध्व मतानुसार “शुक्तिरूप्यं सत्” इस प्रतीति के बल पर अलीक शुक्तिरूप्य में सत्तादात्म्य अर्थात् सत्प्रतियोगिकतादात्म्य रहता है—ऐसा स्वीकार कर लेने पर भी अलीक शुक्तिरूप्य पक्षकोटि में प्रविष्ट नहीं हो सकता है, क्योंकि जब माध्वमत में शुक्तिरूप्य अलीक है, तब उस शुक्तिरूप्य में भासने वाला सत्तादात्म्य भी अलीक होगा। जबकि सिद्धान्त मत में पक्षतावच्छेदक—व्यावहारिक या प्रातिभासिक सत्तादात्म्य है। अतः अलीक सत्तादात्म्य के पक्षतावच्छेदक न होने के कारण उससे अवच्छिन्न अलीक शुक्तिरूप्य का पक्षकोटि में प्रवेश नहीं होगा। अलीक शुक्तिरूप्य का पक्षकोटि में प्रवेश न होने के कारण बाधदोष नहीं होगा। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि “शुक्तिरूप्यं सत्” इस ज्ञान के विषयीभूत सभी पदार्थ अलीक नहीं होते हैं किन्तु सत् पदार्थ और अलीक पदार्थ दोनों ही होते हैं। इसलिए उक्त भ्रम ज्ञान में भासने वाले शुक्तिरूप्य को हम अलीक मानते हैं और शुक्तिरूप्यनिष्ठसत्तादात्म्य को सत् मानते हैं। अतः मिथ्यात्वानुमान का पक्षतावच्छेदक जो सत्तादात्म्य है, उससे अवच्छिन्न अलीक शुक्तिरूप्य के होने के कारण अलीक शुक्तिरूप्य पक्षकोटि में प्रवेश हो जायेगा। ऐसा होने पर बाधदोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त भ्रम के विषयीभूत तादात्म्य को सत् मानने पर उस सत्तादात्म्य का अत्यन्ताभाव होगा नहीं, तब “नेदं रजतम्” इस बाधज्ञान से वह अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी भी नहीं हो पायेगा, जबकि तुम्हारे मत में अलीक पदार्थ ही अत्यन्ताभाव (नेदं रजतम्—इस बाध का) प्रतियोगी होता है—ऐसा माना जाता है और शुक्तिरूप्य में भासने वाले सत्तादात्म्य को तुम अलीक न मानकर सत् मानते हो। दूसरी बात यह है कि यदि उक्त भ्रम विषयीभूत तादात्म्य को अलीक न मानकर सत् मानोगे तब तो उक्त भ्रम विषयीभूत शुक्तिरूप्य को भी अलीक न मानकर सत् मानना पड़ेगा, क्योंकि माध्वमत में यह नियम है कि अधिष्ठान से भिन्न भ्रम के विषयीभूत सभी पदार्थ अलीक होते हैं। किन्तु पूर्वपक्षी उक्त नियम को त्यागकर अधिष्ठान से भिन्न भ्रम के विषयीभूत एक पदार्थ (तादात्म्य) को अलीक न मानकर सत् मान रहा है। तब दूसरे पदार्थ (शुक्तिरूप्य) को भी सत् ही मानना पड़ेगा। आगे सिद्धान्ती यह कह रहे हैं कि उक्त भ्रम विषयीभूत तादात्म्य अलीक शुक्तिरूप्य में नहीं रह सकता है, क्योंकि अलीक किसी का भी आधार बनने में समर्थ नहीं होता है। इसी को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती

लघुचन्द्रिका

माध्वं प्रत्यसाध्यत्वेन तं प्रति बाधाभावाच्च। नचैवमपि तन्मते शुक्तिरूप्यादौ साध्यवैकल्यम्; तं प्रति सद्भिन्नत्वादिवक्ष्यमाणमिथ्यात्वस्यैव साध्यत्वात्॥८॥

ननु—सद्रूपं शुद्धचिदेव, तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतादात्म्यत्वावच्छिन्नाधिकरणत्वं च तस्या नास्ति, इति चिद्भिन्नत्वविशेषणं व्यर्थमिति—चेत्, सत्यम्, उक्ताधिकरणत्वनिवेशे चिद्भिन्नत्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

कह रहे हैं कि अलीक शुक्तिरूप्य में रहने वाले तादात्म्य को यदि अलीक माना जाय तो उसमें जैसे सत्प्रतियोगिकत्व नहीं रहता है, वैसे ही शुक्तिरूप्य को अलीक और उसमें भासने वाले तादात्म्य को सत् मानने पर उस सत्तादात्म्य का अलीक (शुक्तिरूप्य) अनुयोगी नहीं बन पायेगा, क्योंकि सत् और असत् में सम्बन्ध नहीं होता है। अतः शुक्तिरूप्यादि में सत्प्रतियोगिकतादात्म्य के अनुयोगित्वरूप पक्षतावच्छेदक धर्म का अभाव होने से शुक्तिरूप्य पक्ष में प्रविष्ट न होने के कारण पूर्वपक्षी के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से बाधदोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता है। अर्थात् कहने का आशय यह है कि शुक्तिरूप्य और उसमें भासने वाले तादात्म्य को सत् मानना होगा अथवा अलीक मानना होगा। सत् मानने पर माध्वमत में अपसिद्धान्तापत्ति होगी और अलीक मानने पर सत्प्रतियोगिकतादात्म्य न मिलने के कारण शुक्तिरूप्य का पक्षकोटि में प्रवेश नहीं होगा और तब बाधदोष नहीं होगा। “तुष्यतु दुर्जनः” इस न्याय का अनुसरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यदि कथञ्चित् अलीक शुक्तिरूप्य को पक्षकोटि में स्वीकार भी कर लें तो भी बाधदोष नहीं होगा, क्योंकि माध्व के साथ कथा में सदसद्भिन्नत्व को साध्य नहीं बनाया जायेगा, किन्तु माध्व के प्रति सद्भिन्नत्व मात्र को ही साध्य बनाया जायेगा। ऐसा होने पर बाधदोष होगा नहीं क्योंकि माध्वमतानुसार पक्षकोटि में प्रविष्ट अलीक शुक्तिरूप्यादि में सद्भिन्नत्व है। यदि कहा जाय कि पूर्वोक्त प्रकार से बाधदोष न होने पर भी शुक्तिरूप्य दृष्टान्त में साध्यवैकल्य होगा—ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि माध्व के प्रति सद्भिन्नत्व साध्य है और उसका वैकल्य दृष्टान्त में नहीं है, क्योंकि माध्वमत में भी शुक्तिरूप्यादि में सद्भिन्नत्व माना जाता है और माध्वमतानुसार प्रपञ्चसन्मात्ररूप होने के कारण सद्भिन्नत्व को साध्य बनाया ही जा सकता है॥८॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्तमत में शुद्धचित् ही सत् रूप है। अतः सत्तादात्म्य का अर्थ होगा—शुद्धचित्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतादात्म्य की अधिकरणता (अनुयोगिता)। ऐसा तादात्म्य प्रपञ्च में रहने पर भी शुद्धचित् में नहीं रह सकता है क्योंकि जिस तादात्म्य का जो प्रतियोगी है वह उसी तादात्म्य का अनुयोगी नहीं हो सकता। इसलिए सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व रूप पक्ष विशेषण से ही शुद्धचित् पक्ष से बहिर्भूत हो गया। अतः शुद्धचित् को पक्षकोटि से बहिर्भूत करने के लिए सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व से अतिरिक्त चिद्भिन्नत्व रूप पक्ष का विशेषण देना व्यर्थ है। इस शङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो सत्तादात्म्य का अर्थ (शुद्धचित्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतादात्म्य की अधिकरणता) किया है, उसके अनुसार चिद्भिन्नत्व विशेषण नहीं देना चाहिए, किन्तु जीवादिविशिष्ट सत्प्रतियोगिकत्वविशिष्ट तादात्म्य की अधिकरणता शुद्धचित् में रहेगी क्योंकि जिस पक्ष में विशिष्ट को शुद्ध से अतिरिक्त नहीं माना जाता है, उस पक्ष में जीव (अन्तःकरणादि विशिष्टचित्) = शुद्धचित्। अतः शुद्धचित्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतादात्म्य की अधिकरणता शुद्धचित् में रहेगी। इस प्रकार

लघुचन्द्रिका

न देयम् ; तत्प्रतियोगिकस्य 'तादात्म्यस्याधिकरणत्वमात्रनिवेशाभिप्रायेण दत्तम्। ननु—तादृशतादात्म्यस्यापक्षत्वापत्तिः, तस्य स्वस्मिन्नभावात्, तादात्म्ये तादात्म्यान्तरस्यानवस्थापत्याऽनङ्गीकारादिति—चेत्, न ; घटाद्यभावस्येव तस्य स्वस्मिन् स्वरूपसम्बन्धेन वृत्तिस्वीकारात्, 'घटाभावे घटो नास्ति' इतिवत् सत्तादात्म्यं सदिति प्रतीतेः॥९॥

अथ घटादिदृश्यमात्रस्य सत्तादात्म्यवत्त्वे किं मानमिति—चेत्, शक्तिरूप्यादेरिदमा—

सत्यानन्दप्रबोधिका

से सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वं शुद्धब्रह्म में भी चला गया। अतः सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वं विशेषण के द्वारा पक्षकोटि से शुद्धचित् बहिर्भूत नहीं होगा। पक्षकोटि में शुद्धचित् के रहने से बाधदोष होगा। अतः पक्षकोटि से शुद्धचित् को बहिर्भूत करने के अभिप्राय से चिद्विन्नत्व विशेषण दिया गया। इस पर पुनः पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि पूर्वोक्त सत्प्रतियोगिकतादात्म्य प्रपञ्चादि में रह सकता है, किन्तु स्वयं में स्वयं के न रहने के कारण उक्त तादात्म्य अपने में नहीं रह सकता है। ऐसा होने पर उक्त तादात्म्य पक्षकोटि में प्रविष्ट नहीं हो पायेगा, क्योंकि उक्त तादात्म्य का आश्रयीभूत पदार्थ ही पक्ष है। यदि कहो कि उक्त तादात्म्य में तादात्म्यान्तर मानेंगे (शुद्धचित् के तादात्म्य का तादात्म्य तादात्म्य में मानेंगे) तब तो अनवस्था की आपत्ति होगी। अतः पक्ष से बहिर्भूत उक्त तादात्म्य में मिथ्यात्व की असिद्धि होने से द्वैतापत्ति होगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे भूतल में घटाभाव है, वहां घटाभाव में घट तो कदापि नहीं रहेगा। अतः बाध्य होकर घटाभाव में घटाभाव है—यह मानना पड़ता है। ऐसे स्थल पर जैसे घटाभाव में घटाभाव स्वरूप सम्बन्ध से रहता है—ऐसा माना जाता है। ठीक वैसे ही उक्त सत्तादात्म्य भी अपने में माना जाता है। जैसे घटाभाव में घटाभाव के स्वरूप सम्बन्ध से रहने पर अनवस्था नहीं होती है, वैसे ही प्रकृत में भी अनवस्था नहीं होगी। जहां सप्तमी विभक्ति होती है, वहां स्वरूपसम्बन्ध माना जाता है। जैसे "भूतले घटाभावः" "घटाभावे घटो नास्ति"। जहां समान विभक्ति होती है, वहां तादात्म्यसम्बन्ध, जैसे "इदं रजतम्" यहां पर इदम् के साथ रजत का तादात्म्यसम्बन्ध होता है। ऐसे ही "नीलो घटः" यहां पर भी नील रूप के साथ घट का तादात्म्य सम्बन्ध होता है। (अत्यन्ताभेद में स्वरूप सम्बन्ध और भेदाभेद में तादात्म्यसम्बन्ध माना जाता है।) यदि कोई कहता है कि सत्तादात्म्य में सत् का तादात्म्य होता नहीं, तब कह रहे हैं कि "सत्तादात्म्यं सत्" यहां समान विभक्ति होने के कारण सत्तादात्म्य में सत् का तादात्म्य भासित हो रहा है। अतः इस प्रतीति के बल पर सत्तादात्म्य में सत्तादात्म्य माना ही जा सकता है। अतः सत्तादात्म्य में सत्तादात्म्य के रहने से सत्तादात्म्य पक्षकोटि में प्रविष्ट हो जायेगा और उसमें मिथ्यात्व की सिद्धि हो जाने से द्वैतापत्ति नहीं होगी॥९॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि अनिर्वचनीयख्यातिवाद में इदम् में रजत अध्यस्त है। अतः इदम् में रजत और रजत तादात्म्य की उत्पत्ति मानी जाती है। वैसे ही ब्रह्म में घटादि अध्यस्त हैं। अतः ब्रह्म में घटादि और घटादि के तादात्म्य की उत्पत्ति मानी जा सकती है किन्तु घट में ब्रह्म अध्यस्त है—ऐसा माना नहीं जाता है। अतः घटादि दृश्य में ब्रह्म के तादात्म्य की

१. जीवादिरूपविशिष्टसत्प्रतियोगिकतादात्म्यस्य शुद्धचिति सत्त्वात्, विशिष्टस्य च शुद्धानतिरिक्तत्वात्, शुद्धचिद्रूपसत्प्रतियोगिकतादात्म्याधिकरणत्वमपि शुद्धचित्यस्तीत्यभिप्रायेणेत्यर्थः।

लघुचन्द्रिका

दितादात्म्यवत्त्व इव परस्परआध्यासानुभवादिकम्। तथाहि—‘इदं रजतम्’ इत्यादिभ्रमस्थले ‘इदं रजतं जानामि’ ‘रजतमिदं जानामि’ इत्याकारद्वयानुभवादिदमादिविषयतावच्छिन्नं रजततादात्म्या—दिविषयत्वं रजतादिविषयतावच्छिन्नमिदमादितादात्म्यविषयत्वं च चिद्रूपानुभवनिष्ठं भातीति स्वीक्रियते। एवम्—‘इदं रजतम्’ ‘रजतमिदम्’ इति ‘यज्ज्ञानं तन्मिथ्या’ इति बाधकप्रत्ययेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

उत्पत्ति मानी नहीं जा सकती है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण सिद्धान्ती दे नहीं सकते हैं। यही पूर्वपक्षी का आशय है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती सर्वप्रथम प्रातिभासिक पदार्थ में सत्तादात्म्य है— इसमें प्रमाण दे रहे हैं, जिसका निरूपण “शुक्तिरूप्यादेरिदमादितादात्म्यवत्त्व इव.....” से प्रारम्भ होकर “तस्मादिदमादितादात्म्यस्य रजताद्यवच्छेदेनावश्यमुत्पत्तिः प्रातीतिकभ्रमस्थले वाच्या।” तक होगा। इसके आगे “तथा च तद्वदेव....” से व्यावहारिक पदार्थ के सत् तादात्म्यवत्त्व में प्रमाण दिया जायेगा। सिद्धान्ती का कथन है कि शुक्तिरूप्यादि के इदमादितादात्म्यवत्त्व में जिस प्रकार परस्पर अध्यास के अनुभवादि को अर्थात् इदम् में रजत का और रजत में इदम् का जो अध्यास है, उसके अनुभव=“इदं रजतम्” और “रजतमिदम्” को प्रमाण माना जाता है, वैसे ही प्रकृ त में भी समझना चाहिए। अर्थात् “घटः सन्” और “सन् घटः” इस प्रकार परस्परआध्यास के अनुभव ही सत् में घटतादात्म्य और घट में सत्तादात्म्य में प्रमाण होते हैं। जैसे ‘इदं रजतम्’ इत्यादि भ्रम स्थल में ‘इदं रजतं जानामि’ और “रजतमिदं जानामि” दोनों प्रकार की अनुव्यवसायात्मक प्रतीति होती है। प्रथम प्रतीति इदम् में रजत तादात्म्य की उत्पत्ति में प्रमाण है और द्वितीय प्रतीति रजत में इदम् के तादात्म्य की उत्पत्ति में प्रमाण है। इसी प्रकार “सन् घटः” और “घटः सन्” जो दो प्रकार की प्रतीति होती है, उसमें प्रथम प्रतीति से सन्निष्ठ घट का तादात्म्य प्रमाणित होता है और द्वितीय प्रतीति से घटनिष्ठ सत्तादात्म्य प्रमाणित हो जाता है। कहने का आशय यह है कि “इदं रजतम्” इस भ्रमज्ञान में इदम् में रजततादात्म्यादि भासता है। यहां ज्ञान के विषय = इदम् और रजततादात्म्य। अतः ज्ञान की विषयता इदम् और रजततादात्म्य दोनों में है। विषयता = विषय के साथ ज्ञान का तादात्म्यादिसम्बन्ध, सम्बन्ध—उभयनिष्ठ होता है। अतः विषयतारूप सम्बन्ध ज्ञान और विषय दोनों में रहेंगे। अर्थात् विषयतारूपसम्बन्ध जैसे विषय (इदम् और रजततादात्म्य) में है, वैसे ही ज्ञान में भी है। अतः ज्ञान में इदम् विषयता और रजततादात्म्यविषयता दोनों रह गये। इसी को लघुचन्द्रिकाकार ने कहा कि चिद्रूपानुभव (ज्ञान) निष्ठ (व्यवसायात्मक “इदं रजतम्” ज्ञाननिष्ठ) इदं विषयता और रजततादात्म्य विषयता भासित होते हैं। यह नियम है कि समानाधिकरण धर्मों में अवच्छेदक—अवच्छेद्यभाव होता है। जैसे जहां पर घटनिष्ठ कार्यता है, वहां कार्यता और घटत्व दोनों ही घट में रहते हैं। वहां घटत्व अवच्छेदक और कार्यता अवच्छेद्य है। अतः कार्यता घटत्वावच्छिन्न है। इसी प्रकार एक भ्रमज्ञान में रहने वाले दोनों (इदम् विषयता और रजततादात्म्यविषयता) में से इदम् विषयता अवच्छेदक और रजततादात्म्यविषयता अवच्छेद्य। इस प्रकार से “इदं रजतम्” इस ज्ञान के आधार पर इदं विषयतावच्छिन्न रजततादात्म्यविषयता सिद्ध होती है। इस पर यदि कोई प्रश्न करे कि “इदं रजतम्” इस व्यवसायज्ञान में इदम् विषयता और रजततादात्म्यविषयता है—इसमें प्रमाण क्या है? इसके उत्तर में कहा गया कि “इदं रजतं जानामि” यह अनुव्यवसाय ज्ञान ही उसमें प्रमाण

लघुचन्द्रिका

विषयविशिष्टभ्रमस्य मिथ्यात्वावगाहनाद् भ्रमस्येव तद्विषयाणामपि बाधकधीबाध्यत्वम्, तत्रायुक्तबाधधीकालेऽपीदमर्थस्य तादृशधीमता पुरुषेणाङ्गुल्या प्रदर्श्यमानस्य स्वरूपतः सत्यत्वानुभवात् तस्य व्यावहारिकस्वरूपत्वनिश्चयेन स्वरूपतो मिथ्यात्वानिश्चयेन मिथ्यात्वेन निश्चीयमानतादात्म्योपहितरूपेण मिथ्यात्वनिश्चयः, रजतादि—तत्तादात्म्ययोस्तु स्वरूपतोऽपि सः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। ठीक इसी प्रकार “रजतमिदम्” इस ज्ञान में रजतविषयतावच्छिन्न इदम् तादात्म्यविषयता रहती है। इसलिए लघुचन्द्रिकाकार का यह कथन भी चरितार्थ हो जायेगा कि चिद्रूपानुभव (ज्ञान) निष्ठ (व्यवसायात्मक “रजतमिदम्” ज्ञाननिष्ठ) रजतविषयता और इदम् तादात्म्यविषयता भासित होती है। समानाधिकरण धर्मों में अवच्छेदक अवच्छेद्यभाव होता है। यहां पर अवच्छेदक=रजतविषयता और अवच्छेद्य=इदम् तादात्म्यविषयता। अतः “रजतमिदम्” इस ज्ञान के आधार पर रजतविषयत्वावच्छिन्न इदं तादात्म्यविषयता सिद्ध होती है। इसमें प्रमाण है—“रजतमिदं जानामि” यह अनुव्यवसायज्ञान। (जहां रजततादात्म्य लिखा है वहां पर इदमनुयोगिकरजतप्रतियोगिकतादात्म्य लेना है और जहां इदमादितादात्म्य लिखा है, वहां रजतानुयोगिकेदम्प्रतियोगिकतादात्म्य लेना है। यद्यपि “इदम् रजतम्” यह व्यवसायात्मकज्ञान ही रजततादात्म्य में और “रजतमिदम्” यह व्यवसायात्मकज्ञान ही इदन्तादात्म्य में प्रमाण है, किन्तु उक्त दोनों तादात्म्य उक्त दोनों ज्ञानों के विषय हैं— इसमें प्रमाण क्या है? इसके समाधान में उक्त दोनों अनुव्यवसायज्ञान प्रमाणरूप से कहे गये हैं।) अब उक्त दोनों प्रकार का तादात्म्य व्यावहारिक नहीं किन्तु प्रातिभासिक है—यह सिद्ध कर रहे हैं। ऐसा होने पर घटादि में भासने वाला सत्तादात्म्य भी व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं है—यह सिद्ध हो जायेगा। इसी को स्पष्ट करते हुए लघुचन्द्रिकाकार कह रहे हैं कि “इयं शुक्तिः” इस तत्त्वज्ञान के पश्चात् “इदं रजतम्” और “रजतमिदम्” यह भ्रम ज्ञान मिथ्या है—ऐसा अवगाहन होता है। प्रश्न होता है कि यदि उक्त भ्रमज्ञान में ही मिथ्यात्व का अवगाहन होगा तो विषयगत मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा। इसके उत्तर में कह रहे हैं कि केवल उक्त भ्रमज्ञान में ही मिथ्यात्व का अवगाहन नहीं होता है किन्तु बाधकज्ञान (शुक्ति का ज्ञान) से विषयविशिष्टभ्रमज्ञान में मिथ्यात्व का बोध होता है, क्योंकि जैसे बाधकज्ञान से बाध्य उक्तभ्रमज्ञान है, वैसे ही उसी बाधकज्ञान से उक्त भ्रमज्ञान के विषय भी बाधित होते हैं। अतः उक्तभ्रमज्ञान का विषय प्रातिभासिक है—यह सिद्ध हो गया। परन्तु उक्तभ्रमज्ञान का विषय तो इदम् भी है, वह तो प्रातिभासिक नहीं किन्तु व्यावहारिक है—इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि उन भ्रम विषयों में भी बाधकज्ञानवान् पुरुष के द्वारा बाधधीकाल में भी इदं पदार्थ का अङ्गुली के द्वारा प्रदर्श्यमान—यह शुक्ति है— इस प्रकार से शुक्ति में रजतापेक्षया स्वरूपसत्यत्व (व्यावहारिकसत्यत्व) का अनुभव होता है। यदि शुक्ति मिथ्या होती तो बाधकाल में नहीं भासती, जैसे रजतादि बाधकाल में नहीं भासते हैं। इस प्रकार से इदं पदार्थ (शुक्ति) के व्यावहारिक स्वरूप का निश्चय होने से उसमें स्वरूपतः मिथ्यात्व का निश्चय नहीं होता है। इस पर प्रश्न होता है कि जब विषयविशिष्टभ्रमज्ञान में मिथ्यात्व है, तब उसके विशेषणीभूत सभी विषय में (इदम् में भी) मिथ्यात्व होना चाहिये। इसके समाधान में कह रहे हैं कि यद्यपि भ्रमज्ञान का विषय इदम् व्यावहारिक सत्य है किन्तु तादात्म्योपहितरूप से मिथ्या है। (प्रकृत में “सन् घटः” इस भ्रम में सत् और घट का तादात्म्य

लघुचन्द्रिका

इतीदमाद्यवच्छेदेन रजतादिकं तत्तादात्म्यं रजतत्वादेः संसर्गश्च, रजताद्यवच्छेदेनेदमादेस्ता-
दात्म्यमिदन्त्वादेः संसर्गश्चेति जायते, भ्रमस्थले भ्रमकाले बाध्यस्योत्पत्तिस्वीकारात्, तस्य
प्रातीतिकत्वेन भ्रमपूर्वमविद्यमानत्वात्। १०॥

ननु—एकेनैव तादात्म्येनेदंरजतयोराकारद्वये परस्परं प्रति विशेषणतया भानसम्भवात्
तादात्म्यद्वयोत्पत्तौ मानाभाव इति—चेत्, न ; आकारभेदानुपपत्तेः। आकारो हि ज्ञानानां मिथो

सत्यानन्दप्रबोधिका

भासता है। जब ब्रह्मज्ञान से उक्तज्ञान का बाध होता है, तब उक्तज्ञान का विषय सत् (ब्रह्म)
भी होने के कारण उसमें भी मिथ्यात्व होना चाहिये। इसके समाधान में कह रहे हैं कि सत्
(ब्रह्म) स्वरूपेण मिथ्या न होने पर भी घटतादात्म्योपहितरूप से सत् (ब्रह्म) भी मिथ्या है।
रजतादि और उनके तादात्म्य में तो स्वरूपतः मिथ्यात्व निश्चय होता है। यही अधिष्ठान और
आरोप्य में विशेषता है। “इदं रजतम्” इस भ्रमकाल में किस-किस की अनिर्वचनीय उत्पत्ति
होती है। उसे आगे स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि इदमाद्यवच्छिन्नचित् में अनिर्वचनीय रजतादि,
रजतादि का तादात्म्य रजतत्वादि का इदम् के साथ संसर्ग उत्पन्न होते हैं और “रजतमिदम्”
इस भ्रमकाल में रजताद्यवच्छिन्नचित् में अनिर्वचनीय इदमादि का तादात्म्य और इदन्त्वादि का
रजत के साथ संसर्ग उत्पन्न होते हैं। (यहां इदम् की अनिर्वचनीय उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि
इदम् =पूरोवर्तिवस्तु व्यावहारिक होती है—यह पीछे कह चुके हैं।) इसमें कारण यह है कि
भ्रमस्थल पर भ्रमकाल में ही बाध्यवस्तु की उत्पत्ति को स्वीकार किया जाता है। यहां पर
अनुमान का आकार होगा—“रजतादिकं जायते, बाधकधीबाध्यत्वात्, शुक्तिरजततादात्म्यवत्”।
भ्रमकाल में ही उत्पत्ति होने के कारण से ही प्रातीतिक रजतादि पदार्थ भ्रम के पूर्व में विद्यमान
नहीं होते हैं। अतः नैयायिक का यह कथन खण्डित हो गया कि “इदं रजतम्” इस भ्रमस्थल
पर हट्टस्थ रजत भासित होता है। १०॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने जो दो तादात्म्य माना है—इदमवच्छिन्नचिदनुयोगिक—
रजतप्रतियोगिकतादात्म्य और रजतावच्छिन्नचिदनुयोगिकइदमप्रतियोगिकतादात्म्य, इनकी उत्पत्ति
में कोई प्रमाण नहीं है। अतः इनको मानना व्यर्थ है, क्योंकि एक ही तादात्म्य (इदम् और
रजत का परस्पर तादात्म्य) मानने से ही इदम् और रजत के अनुव्यवसायनिष्ठ आकार द्वय
(इदं रजतं जानामि और रजतमिदं जानामि—इस आकार द्वय) में परस्पर के प्रति विशेषण
के रूप से भान सम्भव हो जायेगा। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं
कि “इदं रजतम्” यहां इदम् में रजततादात्म्य भासता है। अतः इदम् विशेष्य और रजत
विशेषण है। “रजतमिदम्” यहां रजत में इदन्तादात्म्य भासता है। अतः रजत विशेष्य और
इदम् विशेषण है। अब यदि दोनों तादात्म्य को अभिन्न माना जाता है तो इदम् रजत का
विशेष्य और विशेषण दोनों होगा, इसी प्रकार रजत भी इदम् का विशेष्य और विशेषण दोनों
होगा, किन्तु जो जिसका विशेषण है, वह उसी समय उसका विशेष्य हो नहीं सकता है।
इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि जैसे घट और पट के संयोग स्थल पर एक ही संयोग
होता है। उस एक ही संयोग के द्वारा घट में पट का संयोग और पट में घट का संयोग मानकर
घट पट परस्पर के प्रति विशेषण बन जाते हैं। (ऐसे स्थल पर घट में रहने वाला पट संयोग
से पट में रहने वाला घट संयोग भिन्न है— ऐसा तो नहीं माना जाता है।) ठीक ऐसे ही इदम्

लघुचन्द्रिका

वैलक्षण्यम्। तच्च विभिन्नविषयत्वरूपम्, नतु विषयिताविशेषमात्रम्; तथा सति बहिर्विषयमात्रलोपापत्त्या साकारवादापत्तेः। तदुक्तमुदयनाचार्यादिभिः—“अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्” इति। अर्थेन=ज्ञानादत्यन्तभिन्नेन घटादिरूपेण विषयेणाभिन्नो धियां विशेषः। निराकारतया=ज्ञानधर्मरूपाकारेण घटादिना विषयितास्थानीयेन हीनतया। तथाच घटादिकं

सत्यानन्दप्रबोधिका

और रजत भी परस्पर विशेषण बन जायेंगे। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि “इदं रजतम्” और “रजतमिदम्” इन दोनों ज्ञानों में इदम्, रजत और तादात्म्य तीन ही विषय हैं। इनमें से इदम् और रजत तो उभय साधारण है। यदि तादात्म्य को भी एक ही माना जाय तब तो दोनों ज्ञानों के सभी विषय समान हो जायेंगे, तब दोनों ज्ञानों का एक ही आकार होना चाहिए। ‘इदं रजतम्’ और ‘रजतमिदम्’ इस प्रकार से आकार द्वय नहीं होना चाहिए। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि दोनों ज्ञानों में तादात्म्य एक होने पर भी एक ज्ञान (इदं रजतम्) में इदमवच्छिन्नचिदनुयोगिकरजतप्रतियोगिकतादात्म्य भासता है और दूसरे ज्ञान में रजतावच्छिन्नचिदनुयोगिकेदम्प्रतियोगिकतादात्म्य भासता है। अतः दोनों ज्ञानों में इदम्, रजत, तादात्म्य के समान होने पर भी अनुयोगित्व, प्रतियोगित्वरूप विषयों के भेद से दोनों ज्ञानों के आकारों में भिन्नता सिद्ध हो जायेगी। इसके समाधान में पण्डितप्रवरविट्ठलेशोपाध्याय ने कहा—“सम्बन्धप्रतियोगित्वानुयोगित्वानां विशिष्टबुद्धिविषयता नेति हृदयम्”। अर्थात् सम्बन्ध के अनुयोगित्व और प्रतियोगित्व विशिष्टबुद्धि के विषय नहीं माने जाते हैं। अतः उनके बल पर उक्त दोनों ज्ञानों के भिन्न-भिन्न आकारों की सिद्धि नहीं की जा सकती है। (अर्थात् आकारद्वय की अन्यथानुपपत्ति ही उक्त तादात्म्यद्वय की उत्पत्ति में प्रमाण है। अतः उक्त तादात्म्यद्वय को मानना उचित ही है।) ज्ञानों का आकार ही परस्पर वैलक्षण्य है। वह वैलक्षण्य विभिन्नविषयकत्वरूप ही होता है। अर्थात् ज्ञानों में स्वाभाविक भेद नहीं माना जाता है किन्तु विभिन्नविषयकत्वेन ही ज्ञानों में भेद माना जाता है। अर्थात् भिन्न-भिन्न विषयरूप उपाधि से प्रयुक्त भेद के कारण ही ज्ञानों में भेद माना जाता है, जैसे घटाकाश मठाकाश में। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि किसी दो ज्ञानों के विषय समान होने पर भी उन दोनों ज्ञानों में रहने वाली विषयिता विशेष के वैलक्षण्य से उन दोनों ज्ञानों में भिन्नता आ सकती है, क्योंकि जैसे दोनों ज्ञानों में प्रकारता और विशेष्यता भिन्न-भिन्न होती है, वैसे ही दोनों ज्ञानों में विषयिता भी भिन्न-भिन्न होती है। अर्थात् भिन्न-भिन्न विषयित्व नामक स्वाभाविक धर्म ज्ञान में रहने के कारण ज्ञानों में भेद माना जाता है, जैसे घटत्व और पटत्व नामक दो भिन्न-भिन्न स्वाभाविक धर्म घट और पट में रहने के कारण घट और पट में भेद माना जाता है। अतः प्रकृत में भी उक्त दोनों ज्ञानों में इदम्, रजत और तादात्म्य समान होने पर भी विषयिता के भेद के कारण उक्त दोनों ज्ञानों के आकारों में भिन्नता आ ही सकती है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि विषयों में वैलक्षण्य से ही ज्ञानों में भिन्नता आती है, विषयिता विशेष के द्वारा ज्ञानों में भिन्नता नहीं आती है, क्योंकि यदि विषयिता विशेष मात्र को ज्ञानों के विलक्षणत्व का हेतु मान लिया जाता है तब तो बाह्य विषयमात्र का लोप हो जायेगा और योगाचार सम्मत साकारज्ञानवाद प्रसक्त हो जायेगा। अर्थात् ज्ञान जो आन्तरिक पदार्थ है और विषय बाह्य पदार्थ है। जब ज्ञान में स्थित विषयिता से ही ज्ञान में भेद सिद्ध हो गया, तब बाह्य विषय

लघुचन्द्रिका

विषयितास्थानीयो ज्ञानधर्मो ज्ञानाद् भिन्नाभिन्नतया बौद्धैर्यदुच्यते, तथा न, किन्तु ज्ञानादत्यन्तभिन्नम्; तथैवानुभवादिति 'भावः। तथाचेदंप्रतियोगिकरजतप्रतियोगिकतादात्म्ययोर्भिन्नयोराका-
रयोरुत्पत्तिरावश्यिकी।११॥

किञ्च 'इदं रजतम्' इत्यादिधीस्थले रजततादात्म्यविषयत्वमिदंविषयत्वेनावच्छिन्नम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

को जैसे बौद्ध नहीं मानता है। ऐसे ही बौद्ध भिन्न अन्य दर्शनकारों को भी न मानने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि विषयों की भिन्नता से ज्ञानों में भिन्नता जब मानना ही नहीं तब तो ज्ञानों से भिन्न विषयों को मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। इसीलिए उदयनाचार्य ने कहा है— “अर्थेनैव विशेषो ही निराकारतया धियाम्” (न्या.कु. ४-४) ज्ञान निराकार होता है और विषय से ही अभिन्न विशेष होता है। अर्थात् ज्ञान से अत्यन्त भिन्न जो घटादि विषय है, वह ज्ञान में रहने वाले भेद (विशेष) से अभिन्न है। (अर्थात् विषय = भेद। इसलिए विषयों के भेद से ही ज्ञानों में भेद आता है।) इसमें हेतु देते हुए कहा—निराकारतया। अर्थात् ज्ञान के धर्मभूत विषयिता स्थानापन्न घटादि से रहित ज्ञान होता है। कहने का भाव यह है कि विषय विषयिता सम्बन्ध से ज्ञान में रहता है। अतः ज्ञान में विषयस्वरूप विषयिता नामक धर्म बौद्ध मानता है। जैसे घटज्ञान में घटविषयिता है, और पटज्ञान में पट विषयिता है, उन विषयिताओं की भिन्नता के कारण ही घटज्ञान और पटज्ञान में भिन्नता है। इस पर उदयनाचार्य का कथन है कि ज्ञान तादृशधर्म से रहित होता है। उदयनाचार्य के मत में घटादि विषय को ज्ञान का उपाधि माना जाता है, न कि ज्ञान का धर्म। अतः बौद्धों का यह जो कथन है कि घटादि पदार्थ बाहर नहीं होते हैं अपितु ज्ञान के विषयता स्थानीय होने के कारण ज्ञान के धर्म हैं और ज्ञान का घटादि विषय के साथ तादात्म्य होता है, अर्थात् भेदाभेद होता है—ऐसा बौद्धों का कथन उचित नहीं है, क्योंकि घटादि पदार्थ ज्ञान से अत्यन्त भिन्न होते हैं, क्योंकि ज्ञान से अत्यन्त भिन्नत्वेन ही घटादिकों का अनुभव होता है। यही उदयनाचार्य के उक्त श्लोक का भाव है। इस प्रकार से जब यह सिद्ध हो गया कि विषयरूप उपाधि के भिन्न-भिन्न होने से ही ज्ञानों में भिन्नता आ सकती है, तब 'इदं रजतम्' और 'रजतमिदम्' इन दोनों ज्ञानों का विषय एक ही तादात्म्य नहीं हो सकता है। इसलिए भिन्न-भिन्न दो तादात्म्य मानने होंगे। प्रथम—इदम्प्रतियोगिकरजतानुयोगिकतादात्म्य। द्वितीय—रजतप्रतियोगिकेदमनुयोगिकतादात्म्य। इस प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि उक्त दोनों तादात्म्यों की उत्पत्ति मानना आवश्यक है।११॥

अब दूसरी युक्ति देते हुए कह रहे हैं कि जो जिसका अवच्छेदक है वह उसी से अवच्छेद्य हो—यह सम्भव न होने के कारण भी दो तादात्म्य की उत्पत्ति माननी होगी। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि “इदं रजतम्” इस व्यवसायात्मकज्ञान स्थल में इदमवच्छिन्नचैतन्य में रजत का तादात्म्य भासता है। अतः इदमवच्छिन्नचैतन्य में रहने वाली इदं विषयता=अवच्छेदक और इदमवच्छिन्नचैतन्य में रहने वाली जो रजततादात्म्यविषयता है, वह उस अवच्छेदक से अवच्छेद्य है। अर्थात् “इदं रजतम्” इस ज्ञान स्थल में इदंविषयता से अवच्छिन्न रजततादात्म्यविषयता

१. घटस्य ज्ञानाभेदे जानामीत्येवं प्रतीयेत, न तु घटं जानामीति भावः।

२. आकारयोरिति—विषययोरित्यर्थः।

लघुचन्द्रिका

इदंतादात्म्यविषयत्वञ्च रजतविषयत्वेनावच्छिन्नमित्याकारद्वयं प्रतीयत इत्युक्तम्। तच्च तादात्म्यस्यैकत्वे नोपपद्यते। रजततादात्म्यादिविषयताया इदंविषयतावच्छेद्यत्वे रजतादिविषयताया अपीदंविषयतावच्छेद्ये विशेषणत्वादिविषयतावच्छेद्यत्वेन नेदंतादात्म्यादिविषयतावच्छेदकत्वसम्भवः; अवच्छेद्ये विशेषणीभूतायामिदंविषयतायामवच्छेदकत्वासम्भवात्। नच—‘रजतमिदं जानामि’ इत्यादिप्रत्यये रजतादिविषयतावच्छिन्नत्वमिदंविषयताविशिष्टे तादात्म्यविषयत्वे न भाति, किन्तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

(रजतविषयताविशिष्टतादात्म्यविषयता) है। इसी प्रकार ‘रजतमिदम्’ इस स्थल पर रजतविषयता से अवच्छिन्न इदंतादात्म्यविषयता (इदंविषयताविशिष्टतादात्म्यविषयता) होती है। यहां पर रजतविषयता अवच्छेदक है और इदंतादात्म्यविषयता अवच्छेद्य होती है। इस प्रकार से आकारद्वय की प्रतीति होती है—यह पहले कहा जा चुका है। उक्त आकारद्वय का निर्वाहक उक्त विषयताद्वय की सिद्धि एक ही तादात्म्य की उत्पत्ति मानने पर नहीं हो सकती है, क्योंकि जब इदंविषयता रूप अवच्छेदक से अवच्छेद्य रजततादात्म्यविषयता (रजतविषयता विशिष्टतादात्म्यविषयता) है, तब रजतविषयता जो कि रजततादात्म्यविषयता का विशेषण है, वह (रजतविषयता) भी इदंविषयता से अवच्छेद्य हो गया—यह ‘इदं रजतम्’ इस स्थल पर देखा गया। पुनः जब ‘रजतमिदम्’ स्थल पर विचार किया जाता है तब देखा जाता है कि रजतविषयतावच्छिन्न इदंतादात्म्यविषयता (इदंविषयताविशिष्टतादात्म्यविषयता) है। अतः इदं तादात्म्यविषयता की विशेषणीभूत इदंविषयता भी रजतविषयता से अवच्छिन्न है। अतः दोनों तादात्म्यों को एक मानने पर एक वस्तु जिसका अवच्छेदक है उसी से अवच्छेद्य हो रहा है। अर्थात् इदंविषयता रजतविषयता से अवच्छिन्न और रजतविषयता इदंविषयता से अवच्छिन्न मानना पड़ेगा, जो कि असम्भव है। यदि ज्ञान के दोनों स्थलों (इदं रजतम्—रजतमिदम्) में भासने वाले तादात्म्य को भिन्न—भिन्न माना जाय, तब उक्त आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि ‘इदं रजतम्’ इस ज्ञान में भासने वाली रजतविषयता और इदं विषयता जिस तादात्म्य से सम्बन्धित है, उस तादात्म्य से भिन्न तादात्म्य से सम्बन्धित है—‘रजतमिदम्’ इस ज्ञान में भासने वाली रजतविषयता और इदंविषयता। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि ‘रजतमिदं जानामि’ इस ज्ञान में भासने वाली जो इदंतादात्म्यविषयता है, उसका विशेषण इदंविषयता है—ऐसा जो सिद्धान्ती का कथन है, वह उचित नहीं है, क्योंकि यदि उक्त ज्ञान में इदंविषयताविशिष्टतादात्म्यविषयता भासती तब तो उसका विशेषण इदंविषयता होती परन्तु वैसे तो भासती नहीं है, अपितु इदंतादात्म्यविषयता ही भासती है। इदंतादात्म्य विषयता का अर्थ—इदम् उपलक्षित तादात्म्यविषयता भी हो सकता है, न कि इदंविषयताविशिष्ट—तादात्म्यविषयता। अतः इदम् जब उपलक्षण है तब वह तादात्म्यविषयता के साथ भासित नहीं होगा अपितु केवल तादात्म्यविषयता ही भासित होगी। इसलिए रजतविषयता से अवच्छिन्न तादात्म्यविषयता ‘रजतमिदम्’ इस स्थल पर होगी और इदंविषयता से अवच्छिन्न तादात्म्यविषयता ‘इदं रजतम्’ इस स्थल पर होगी। इस प्रकार अवच्छेदक और अवच्छेद्य भिन्न—भिन्न हो जाने से सिद्धान्ती के द्वारा उक्त आपत्ति भी नहीं होगी और दो तादात्म्य न मानकर एक ही तादात्म्य मानना आवश्यक होगा। अतः सिद्धान्ती के द्वारा दो तादात्म्य मानना उचित नहीं है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यदि पूर्वपक्षी के कथनानुसार ‘रजतमिदं जानामि’ इस ज्ञान में रजतविषयतावच्छिन्न इदंविषयताविशिष्टतादात्म्यविषयता भासती है— यह न मानकर

लघुचन्द्रिका

केवल इति—वाच्यम् ; तथा सति विशेषणविषयत्वे विशेष्यविषयतावच्छिन्नत्वस्यासिद्ध्यापातात् । नहि तदनुभवः पृथगस्ति । नच तदसिद्धमेव ; सर्वानुभवसिद्धत्वात् ॥ १२ ॥

ननु—आस्तामिदमादिविषयत्वरजतादिविषयत्वयोः परस्परवच्छिन्नत्वमिति—चेत्, न ; प्रसिद्धावच्छेदकस्य मूलादेस्तदवच्छिन्नसंयोगाद्यवच्छिन्नत्वाननुभवेन विषयत्वयोरपि परस्परवच्छिन्नत्वाकल्पनात्, छद्धान्तनुसारेणैव कल्पनात् । नच—मूलादिनिष्ठवच्छेदकत्वाद्विलक्षणं विषयत्वनिष्ठमवच्छेदकत्वमिति वाच्यम् ; विलक्षणत्वासिद्धेः, मूलादिनिष्ठवच्छेदकताजातीयस्यैवावच्छेदकत्वस्य विषयत्वेऽनुभवात् ॥ १३ ॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

रजतविषयतावच्छिन्नतादात्म्यविषयता का ही भान होता है—यह माना जाय तब तो इदंतादात्म्यविषयता में विशेषण जो इदंविषयता है, उसमें विशेष्यविषयता से अवच्छिन्नत्व (रजतविषयतावच्छिन्नत्व) की सिद्धि ही नहीं हो पायेगी । विशेषणविषयता विशेष्यविषयता से ही अवच्छिन्न होती है—ऐसा ही अनुभव होता है, इससे पृथक् प्रकार का अनुभव नहीं होता है । अर्थात् रजतविषयता से अवच्छिन्न इदंविषयताविशिष्ट तादात्म्यविषयता होती है—ऐसा ही अनुभव होता है । इस अनुभव से पृथक् ऐसा अनुभव नहीं होता है कि रजतविषयता से अवच्छिन्न केवल इदंविषयता होती है । इस पर पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता है कि विशेष्य विषयता से अवच्छिन्न विशेषणविषयता नहीं होती है, क्योंकि वह सर्वानुभव सिद्ध है ॥ १२ ॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि “ययोर्विषयत्वयोः निरुत्पन्निरूपकभावापन्नत्वम्, तयोः अवच्छेद्यावच्छेदकभावोऽपि वर्तते” इस न्याय के बल पर इदंविषयता और रजतविषयता का परस्पर अवच्छेद्य—अवच्छेदकभाव माना जा सकता है । अतः सिद्धान्ती ने जो परस्पर अवच्छेद्य—अवच्छेदक भाव मानने के भय के कारण ही एक तादात्म्य न मानकर दो तादात्म्यों की उत्पत्ति मानी थी, वह अनुचित है । इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि “वृक्ष मूले कपिसंयोगः” इस स्थल पर मूल से अवच्छिन्न जो कपिसंयोग उस कपिसंयोग से अवच्छिन्न मूल है—ऐसा अनुभव नहीं होता है । “मूलादि” में आदि पद से शाखा का ग्रहण कर लेना चाहिए, तब अर्थ होगा कि शाखा से अवच्छिन्न जो कपिसंयोग है, उस कपिसंयोग से अवच्छिन्न शाखा है—ऐसा अनुभव नहीं होता है । कहने का आशय यह है कि शाखावच्छेदेन वृक्ष में कपिसंयोग है—ऐसा अनुभव होता है किन्तु कपिसंयोगावच्छेदेन वृक्ष में शाखा है—ऐसा अनुभव किसी को होता नहीं है, क्योंकि कपिसंयोग हट जाने पर भी जहां कपिसंयोग था, वहां शाखा पूर्ववत् विद्यमान है किन्तु शाखा के वृक्ष से कटकर अलग हो जाने पर जहां शाखा थी, वहां कपिसंयोग पूर्ववत् बना रहेगा—यह सम्भव नहीं है । इसी प्रकार प्रकृत में भी दोनों विषयता (इदंविषयता और रजतविषयता) में भी परस्पर अवच्छेद्य—अवच्छेदक की कल्पना नहीं की जा सकती है, क्योंकि किसी दृष्टान्त के बल पर ही नियमों की कल्पना की जाती है । इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि दृष्टान्त में अवच्छेदक मूलादि है और दार्ष्टान्त में अवच्छेदक इदंविषयतादि है । इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में भिन्न—भिन्न अवच्छेदकता है । अतः दृष्टान्त में परस्पर अवच्छेद्य—अवच्छेदक भाव न होने पर भी दार्ष्टान्त (इदंविषयता और रजतविषयता) में परस्पर अवच्छेद्य अवच्छेदक भाव माना ही जा सकता है । इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृष्टान्त की मूलादिनिष्ठ अवच्छेदकता में और दार्ष्टान्त की इदंविषयतादिनिष्ठ अवच्छेदकता में भिन्नत्व नहीं है, क्योंकि मूलादिनिष्ठ जिस जातीय अवच्छेदकता है, उस जातीय ही अवच्छेदकता इदंविषयतादि में भी है—ऐसा ही अनुभव होता है ॥ १३ ॥

लघुचन्द्रिका

विषयता हि विषयेषु ज्ञानस्य तादात्म्यम्, नतु वृत्तेराकाराख्यसम्बन्धः ; वृत्तिं विनापि सुखादेश्चिद्रूपज्ञाने विषयत्वानुभवात्। अत एव ज्ञानं चिदेव, नतु वृत्तिः। तथा चैकवृक्षादिनिष्ठ-संयोगतदभावयोरग्रमूलाद्यवच्छेदेनैकस्यां सर्वदृश्यतादात्म्यापन्नचिद्व्यक्तौशुक्त्यादिघटादि-तादात्म्यावच्छेदेन रजतादितादात्म्यतदभावयोरुपपादनार्थमवच्छेदकत्वस्वीकारेण तादात्म्यरूपविषयत्वे मूलादिनिष्ठसंयोगाद्यवच्छेदकत्वजातीयस्य विषयत्वावच्छेदकत्वस्य सम्भवेन गौरवापादकस्य विलक्षणावच्छेदकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। मूलादिनिष्ठावच्छेदकत्ववदेव विषयत्वनिष्ठा-

सत्यानन्दप्रबोधिका

दृष्टान्तगत और दार्ष्टान्तगत अवच्छेदकताओं में भिन्नता नहीं है, इसमें हेतु देते हुए कह रहे हैं कि विषयता का अर्थ है विषयों में ज्ञान का तादात्म्य, न कि वृत्तिरूपज्ञान का विषयों में आकाराख्य सम्बन्ध विशेष। अर्थात् जहां घट ज्ञान होता, वहां ज्ञान का विषय घट होता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि घट में ज्ञान का तादात्म्य है। अतः घट ज्ञान की विषयता घट में है। अर्थात् ज्ञान=अभिव्यक्त प्रकाशस्वरूपज्ञान, प्रकाशस्वरूप अभिव्यक्तज्ञान का तादात्म्य जब घट में आया तभी घट विषय बना। अतः घट की विषयता=घट में ज्ञान का तादात्म्य। घटाकारवृत्ति जब बनती है तब घट के साथ वृत्ति का आकाराख्य सम्बन्ध हो जाता है और तब घट में ज्ञान की विषयता आती है ऐसी बात नहीं; क्योंकि आकाराख्य सम्बन्ध को विषयता मानने पर जब किसी वस्तु के आकार की वृत्ति नहीं बनेगी तब उस वस्तु को विषय नहीं कहा जायेगा, परन्तु सुखाकार अन्तःकरण की वृत्ति के बिना भी जब भी ज्ञान का विषय सुख बनता है उस समय सुखाकार वृत्ति नहीं मानी जाती है, क्योंकि भयादि के जैसे ही सुख एक वृत्तिविशेष है और अनवस्था के भय से वृत्त्याकार वृत्ति नहीं मानी जा सकती है। सुषुप्त्यादि स्थल पर "मुझे सुख हो रहा है" ऐसी अन्तःकरण की वृत्ति न बनने पर भी अविद्यावृत्ति से सुख का अनुभव होता है। अविद्यावृत्ति को प्रमाण नहीं माना जाता है किन्तु अन्तःकरण की वृत्ति को ही प्रमाण माना जाता है। अतः ऐसे स्थल पर अन्तःकरण की वृत्ति के आकाराख्यसम्बन्ध के बिना भी सुख में विषयता रहती है। इसलिए यहां ज्ञान पद से वृत्त्यात्मकज्ञान को न लेकर चैतन्यात्मकमुख्यज्ञान का ग्रहण किया गया है। चैतन्यस्वरूपमुख्यज्ञान सर्वदृश्यविषयक होता है। इसलिए जैसे एक वृक्षादिनिष्ठ संयोग और संयोगाभाव की शाखावच्छेद और मूलावच्छेद से व्यवस्था की जाती है ठीक उसी प्रकार सर्वदृश्यों के साथ तादात्म्यापन्न एक ही चैतन्यस्वरूपज्ञान में शुक्तितादात्म्यावच्छेदेन रजततादात्म्य और घटादितादात्म्यावच्छेदेन रजतादि तादात्म्य के अभाव का उपपादन करने के लिए ही अवच्छेदकत्व की कल्पना की जाती है। अर्थात् जैसे दृष्टान्त में वृक्ष एक ही है वैसे ही दार्ष्टान्त में चैतन्यात्मकज्ञान एक ही है। दृष्टान्त में जैसे एक वृक्ष के मूलावच्छेदेन कपिसंयोग है और शाखावच्छेदेन उसी वृक्ष में कपिसंयोगाभाव है वैसे ही दार्ष्टान्त में जिस ज्ञान में शुक्तिविषयतावच्छेदेन रजतविषयता है उसी एक ही ज्ञान में घटविषयतावच्छेदेन रजतविषयता का अभाव है। अतः मूलादि में जिस जातीय अवच्छेदकता है तज्जातीय अवच्छेदकता ही इदंविषयतादि में है। ऐसा मानने में लाघव भी है। अतः गौरवकारक भिन्न-भिन्न जातीय वाला अवच्छेदकत्व माना नहीं जा सकता है। इसलिए मूलादिनिष्ठ अवच्छेदकत्व के जैसे ही विषयत्वनिष्ठ अवच्छेदकत्व में भी अनुभव के अनुसार ही व्यवस्था होनी चाहिए। अर्थात् जैसे दृष्टान्त में मूलादि और कपिसंयोग में परस्पर अवच्छेद-अवच्छेदकभाव नहीं होता है, वैसे ही दार्ष्टान्त में भी इदंविषयता और

लघुचन्द्रिका

वच्छेदकत्वेऽनुभवादव्यवस्था ॥ १४ ॥

अथ—संयोगादेरवच्छेदकतासम्बन्धेनोत्पत्तौ तादात्म्यसम्बन्धेन मूलादेर्हेतुत्वात् संयोगादेरेव मूलाद्यवच्छिन्नत्वम्, न विपरीतम् ; मानाभावात्, विषयत्वयोस्त्वेकमेवापरत्रावच्छेदकमित्यत्र नियामकाभाव इति—चेन्न ; व्यावहारिकस्येदमादेः स्वावच्छिन्नसंयोगादौ यत् कारणत्वं क्लृप्तम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

रजतविषयता में भी परस्पर अवच्छेद्य—अवच्छेदकभाव नहीं माना जा सकता है ॥ १४ ॥

पीछे कहा गया कि जैसे संयोग ही मूलावच्छिन्न होता है, मूल संयोगावच्छिन्न नहीं होता है। इस दृष्टान्त के बल पर जो इदंविषयता जिस रजतविषयता से अवच्छिन्न है, वही रजतविषयता इदंविषयता से अवच्छिन्न नहीं हो सकती है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि संयोग मूलावच्छिन्न होता है और मूल संयोगावच्छिन्न नहीं होता है। इसमें कार्यकारणभावरूप प्रमाण है किन्तु प्रकृत में कोई प्रमाण नहीं है। अतः उक्त दोनों विषयताओं में परस्पर अवच्छेद्य—अवच्छेदक भाव होना चाहिये। इस आशय से आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ हो रहा है। पूर्वपक्षी का कथन है कि मूल संयोग का अवच्छेदक है। इसलिए वृक्ष के मूलभाग में अवच्छेदकता सम्बन्ध से संयोग उत्पन्न हुआ। इस प्रकार से संयोग अवच्छेदकता सम्बन्ध (जो कि कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध है) से मूलावच्छिन्नवृक्ष में रहेगा और मूल तादात्म्य सम्बन्ध से मूलावच्छिन्नवृक्ष में रहेगा। अतः समानाधिकरण मूल और संयोग में कार्यकारणभाव बना। मूलावच्छिन्नवृक्ष में कपिसंयोग उत्पन्न होता है—ऐसा न मानकर केवल वृक्ष में कपिसंयोग उत्पन्न होता है—ऐसा मानने पर जिस काल में मूल में कपिसंयोग है, उसी काल में ही वृक्ष के अग्रभाग में भी कपिसंयोग की उत्पत्ति मानने का प्रसङ्ग आयेगा। अतः उक्त कार्यकारणभाव मानना ही पड़ेगा और यह कार्यकारणभाव ही मूल की अवच्छेदकता होने में और संयोग की अवच्छेदकता न होने में प्रमाण है। जबकि “इदं रजतम्” इस स्थल पर रजत और रजततादात्म्य की अवच्छेदकता सम्बन्ध से ज्ञान में उत्पत्ति के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से इदंविषयता हेतु और “रजतमिदम्” स्थल पर इदंतादात्म्य की अवच्छेदकता सम्बन्ध से ज्ञान में उत्पत्ति के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से रजतविषयता हेतु है—इस प्रकार के कार्यकारणभाव मानने में कोई प्रमाण नहीं है। अतः “इदं रजतम्” और “रजतमिदम्” इन दोनों प्रतीतियों में भासने वाले तादात्म्य को एक ही मानना चाहिए। दो तादात्म्य मानना व्यर्थ है और इदंविषयता और रजतविषयता में परस्पर अवच्छेद्य—अवच्छेदकभाव मानने में कोई आपत्ति भी नहीं है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं—व्यावहारिकस्येदमादेः। पीछे कहा जा चुका है कि संयोग सम्पूर्ण वृक्ष में उत्पन्न नहीं होता है किन्तु मूलावच्छेदेन वृक्ष में उत्पन्न होता है, अन्यथा वृक्ष के अग्रभाग में भी कपिसंयोग की प्रतीति होनी चाहिए। इसी प्रकार “इदं रजतम्” यहां रजत और रजत तादात्म्य की भी उत्पत्ति सर्वदृश्यतादात्म्यापन्नचिद् (ज्ञान) में नहीं होती है। अन्यथा सर्वदृश्यतादात्म्यापन्नचिद् व्यक्ति में रजत और रजततादात्म्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा मानने पर “घटो रजतम्” “पटो रजतम्” ऐसी प्रतीति होने की आपत्ति होगी। अतः वैसा न मानकर इदंविषयतावच्छिन्नचित् में ही रजत और रजततादात्म्य की उत्पत्ति मानना होगा और ऐसा होने पर यह कार्यकारणभाव भी मानना होगा कि अवच्छेदकता सम्बन्धेन रजत और रजततादात्म्य की चित् में उत्पत्ति के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से इदंविषयता कारण है। यह

लघुचन्द्रिका

तदेव अवच्छेदकतासम्बन्धेन स्वावच्छिन्नसामान्यस्योत्पत्तौ ; तथाच रजतादि—तत्तादात्म्ययोरपि तत्तादिदमर्थव्यक्तिभिरवच्छिन्नत्वात् तयोस्तावच्छेदकतासम्बन्धेनोत्पत्तौ तद्व्यक्तेस्तादात्म्येन हेतुत्वम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

कार्यकारणभाव “इदं रजतम्” इस प्रतीति के बल पर मानना आवश्यक है। इसी प्रकार “रजतमिदम्” इस स्थल पर भी कार्यकारणभाव माना जायेगा। अतः पूर्वपक्षी ने दोनों विषयताओं में परस्पर अवच्छेद—अवच्छेदक भाव माना था, प्रमाणाभाव कह कर के, वह अब नहीं कह सकता है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से प्रमाण उपस्थित कर दिया गया। यद्यपि ऐसा समाधान दिया जा सकता था किन्तु ऐसा समाधान देने से कपिसंयोग और मूल में जो कार्यकारणभाव होता, उससे पृथक् कार्यकारणभाव इदं विषयता और रजतविषयता में होता। इस प्रकार से भिन्न—भिन्न कार्यकारणभाव मानने से गौरव होता। अतः भिन्न—भिन्न कार्यकारणभाव न बनाकर मूल और कपिसंयोग में जैसा कार्यकारणभाव है, वैसा ही कार्यकारणभाव इदंविषयता रजतविषयता इत्यादि सभी स्थलों पर है। इसी को आगे लघुचन्द्रिकाकार कह रहे हैं। “संयोगादेरवच्छेदकतासम्बन्धेनोत्पत्तौ तादात्म्यसम्बन्धेन मूलादेहेतुत्वात्” यहां पर मूल के स्थान पर सामान्यरूपेण इदम् रखकर अर्थात् इदम् से किसी स्थान पर मूल तथा किसी स्थान पर इदं विषयतादि और किसी स्थान पर घटादि का ग्रहण होगा और कपिसंयोग के स्थान पर इदमवच्छिन्नसामान्यपदार्थ (संयोगादि व्यावहारिक पदार्थ या रजतविषयतादि प्रातिभासिक पदार्थ) का ग्रहण किया जाय तो सर्वत्र एक ही कार्यकारणभाव से काम चल जायेगा। जैसे जल से पूर्ण घट है। वहां घट स्थित जल के साथ वायु का संयोग है। अर्थात् घटावच्छिन्न वायु में जल संयोग है। ऐसे स्थल पर कार्यकारणभाव होगा—अवच्छेदकतासम्बन्ध से जल संयोग के घटावच्छिन्न वायु में उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन घट कारण है। अतः कार्यकारणभाव का आकार होगा—“अवच्छेदकतासम्बन्धेन इदमवच्छिन्नयत्किञ्चित् पदार्थोत्पत्तिं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन इदं कारणम्।” प्रकृत में “इदम् रजतम्” इस स्थल पर इदम् के स्थान पर इदंविषयता और यत्किञ्चित् के स्थान पर रजत और रजततादात्म्य लेंगे और तब अर्थ होगा कि अवच्छेदकतासम्बन्ध से रजत और रजततादात्म्य की इदमवच्छिन्नचित् में उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन इदंविषयता कारण है। इसी प्रकार “रजतमिदम्” इस स्थल पर इदम् के स्थान पर रजतविषयता और यत्किञ्चित् के स्थान पर इदम् का तादात्म्य लेंगे। तब अर्थ होगा कि अवच्छेदकतासम्बन्ध से इदंतादात्म्य की रजतावच्छिन्नचित् में उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन रजतविषयता कारण है। यहां पर प्रश्न होता है कि अवच्छेदकता सम्बन्ध से मूलावच्छिन्नवृक्ष में कपिसंयोग की उत्पत्ति के प्रति मूलावच्छिन्नवृक्ष के अवच्छेदक मूल को तादात्म्येन कारण कहा जा रहा है किन्तु प्रकृत में अवच्छेदकता सम्बन्ध से रजत और रजततादात्म्य की इदमवच्छिन्नचित् में उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन इदमवच्छिन्नचित् के अवच्छेदक इदम् को कारण न कह कर इदंविषयता को कारण क्यों कहा जा रहा है। इसका उत्तर यह है कि इदमवच्छिन्नचित् (ज्ञान) का विषय और अवच्छेदक इदम् है। अतः इदम् में विषयता भी है। इसलिए इदंविषयता कहा जा रहा है। इसी प्रकार “रजतमिदम्” स्थल पर रजतविषयता कहा जाता है। घटावच्छिन्नवायु में जलसंयोग स्थल पर इदम् के स्थान पर घट और यत्किञ्चित् के स्थान पर जलसंयोग लेंगे, तब अर्थ होगा कि अवच्छेदक सम्बन्ध से जलसंयोग की घटावच्छिन्नवायु में उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन घट कारण है। इस प्रकार से सर्वत्र कार्यकारणभाव बन जायेगा। इस प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि इदम्

लघुचन्द्रिका

‘अन्त्यावयविनामपि घटादीनांतन्मध्यस्थजलादिवायुसंयोगाद्यवच्छेदकत्वानुभवात्तेष्वपि तथैव भ्रमविषयावच्छेदकत्वसम्भवः, गुण-कर्मादीनां तु तादृशहेतुत्वस्यावल्पात्तत्वेऽपि तद्विशेष्यकभ्रमस्थले

सत्यानन्दप्रबोधिका

शब्द वाच्य व्यावहारिक मूलादि का मूलादि से अवच्छिन्न वृक्ष में संयोगादि की उत्पत्ति में तादात्म्येन जो मूलादिगत कारणता नियत है, वही कारणता अवच्छेदकतासम्बन्ध से इदमवच्छिन्नचित् में रजतादि की उत्पत्ति में भी है। रजत और रजततादात्म्य इदमादि व्यक्तियों से अवच्छिन्न चित् में हैं। इसलिए इदमवच्छिन्नचित् में अवच्छेदकता सम्बन्ध से रजत और रजततादात्म्य की उत्पत्ति में तादात्म्येन इदमादि व्यक्ति का हेतुत्व है। अतः “इदं रजतम्” इस स्थल पर जो तादात्म्य है, उससे भिन्न “रजतमिदम्” इस स्थल पर तादात्म्य है। इस प्रकार से दो तादात्म्य मानना आवश्यक है। इदंविषयता और रजतविषयता में परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव मानने पर खण्ड संख्या १२ में कहा गया दोष आयेगा। अतः इदंविषयता और रजतविषयता में परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव नहीं माना जा सकता है। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि व्यावहारिक मूलावच्छेदेन जहां व्यावहारिक कपि संयोग की उत्पत्ति होती है, वहां जो मूल में कारणता है। (अर्थात् अवच्छेदकता सम्बन्ध से मूलावच्छिन्नवृक्ष में कपिसंयोग की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन मूल कारण है।) वही कारणता व्यावहारिक मूल में यदि पुरुषादि (प्रातिभासिक पदार्थ) का भ्रम हो तो तब भी अवच्छेदकता सम्बन्ध से उस प्रातिभासिक पदार्थ की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन व्यावहारिक मूल कारण हो जायेगा किन्तु जहां अन्त्यावयवी शक्ति को देखकर के रजत का भ्रम होता है, वहां तो अवच्छेदकता सम्बन्ध से प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन व्यावहारिक शक्ति को कारण नहीं मान सकते हैं, क्योंकि जो अवच्छेदक होता है, उसको किसी का अवयव होना चाहिए। जैसे मूलादि जो कपि संयोग के अवच्छेदक हैं, वे मूलादि वृक्ष के अवयव भी हैं। ऐसे ही जहां पट के किसी अवयव के साथ घट का संयोग है, जो उस संयोग के प्रति पट का वह अवयव अवच्छेदक होगा। किन्तु जो अन्त्यावयवी शक्ति घटादि पदार्थ हैं। जो किसी पदार्थ के अवयव नहीं होते हैं। वे शक्ति घटादि पदार्थ किसी के अवच्छेदक हो ही नहीं सकते हैं। अतः इदम् से जहां मूलादि अवयव का ग्रहण होगा, वहां तो अवच्छेदकता सम्बन्ध से मूलावच्छिन्नवृक्ष में कपिसंयोग की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन इदं पदार्थ = मूल कारण हो जायेगा किन्तु जहां इदमर्थ घटादि रूप अन्त्यावयवी पदार्थ होगा, वहां घटाद्यवच्छिन्न अमुक पदार्थ में संयोगादि की अप्रसिद्धि होने के कारण अवच्छेदकतासम्बन्ध से संयोगादि की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन अन्त्यावयवी पदार्थ (घटादि) कारण नहीं बन पायेंगे। इसी प्रकार शक्त्यवच्छिन्न अमुक पदार्थ में रजतभ्रम होता है—ऐसा न होने के कारण अवच्छेदकता सम्बन्ध से रजत की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन शक्ति को भी कारण नहीं माना जा सकेगा—यह पूर्वपक्षी का आशय है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अन्त्यावयवी घट मध्यस्थ जल वायु संयोग स्थल पर देखा गया है कि जो वायु में जलसंयोग है वह घटावच्छेदेन वायु में है, पटावच्छेदेन वायु में नहीं है। अतः ऐसे स्थल पर अवच्छेदकता सम्बन्धेन वायुनिष्ठ जलसंयोग के प्रति तादात्म्येन घट कारण हो जायेगा। इसी प्रकार शक्ति मध्यस्थ जलवायु संयोग स्थल पर भी अवच्छेदकता सम्बन्धेन वायुनिष्ठ जलसंयोग के प्रति तादात्म्येन शक्तिकारण हो जायेगी। इस प्रकार से व्यावहारिक घट

लघुचन्द्रिका

विशेषणसंसर्गयोर्विशेष्यनिष्ठावच्छेदकतासम्बन्धेनोत्पत्तौ विशेष्यनिष्ठेन तत्सम्बन्धेन दोषाणां हेतुत्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

शुक्त्यादि अन्त्यावयवी पदार्थों में भी अवच्छेदकता प्रसिद्ध है। अतः घट के किसी एक भाग में किसी को जब पट का भ्रम हो जाय तब ऐसे स्थल पर अवच्छेदकता सम्बन्ध से घट के एक भाग निष्ठ प्रातिभासिक पट के उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन घट में कारणता मानी जायेगी। इसी प्रकार शुक्त्यवाच्छिन्नचित् में जब रजत और रजततादात्म्य का भ्रम होता है, तब अवच्छेदकतासम्बन्ध से शुक्त्यवाच्छिन्नचित्निष्ठ रजतादि की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन शुक्ति कारण हो जायेगी। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि किसी को यदि मधुररसावच्छिन्न मातृदुग्ध में प्रातिभासिक तिक्त रस का भ्रम हो जाय तो वहां पर अवच्छेदक सम्बन्ध से मातृदुग्ध में प्रातिभासिक तिक्तरस की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन मधुर रस कारण है—यह तो मान नहीं सकते हैं, क्योंकि मधुररसावच्छिन्न किसी में भी किसी व्यावहारिक पदार्थ की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन मधुर रस कारण है—यह तो प्रसिद्ध नहीं है, अपितु मधुररसावच्छिन्न गुड़ स्थल पर मधुर रस के प्रति गुड़ को ही कारण माना जाता है। इसी प्रकार गमनक्रियावच्छिन्न नाव में वृक्षगमन का भ्रम होता है। ऐसे स्थल पर अवच्छेदकता सम्बन्ध से नाव में प्रातिभासिक वृक्ष गमन की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन नाव गमन कारण है—ऐसा मान नहीं सकते हैं, क्योंकि क्रियावच्छिन्न किसी वस्तु में किसी व्यावहारिक पदार्थ की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन क्रिया कारण है— ऐसा प्रसिद्ध नहीं है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि व्यावहारिक स्थल पर गुणकर्मादि में तन्निष्ठावच्छेदकता सम्बन्ध से किसी की उत्पत्ति के प्रति कारणता प्रसिद्ध नहीं है, तथापि भ्रम स्थल में तादृश कारणता प्रसिद्ध है। इसी को आगे स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि गुण कर्मादि है विशेष्य जिस भ्रम का ऐसे भ्रमस्थल में विशेषण और संसर्ग दोनों के ही अवच्छेदकतासम्बन्ध से विशेष्यनिष्ठ उत्पत्ति के प्रति विशेष्यनिष्ठ अवच्छेदकतासम्बन्ध से या आश्रयता सम्बन्ध से गुण, कर्म और दोषों में हेतुता की कल्पना की जाती है। जैसे गाढ़ा रक्तरूप को देखकर के किसी को नीलरूप का भ्रम हो रहा है। ऐसे स्थल पर गुण = रक्तरूप। वह है विशेष्य जिस भ्रम का, वैसे भ्रम स्थल पर विशेषण = नीलरूप, संसर्ग = नीलरूप का संसर्ग। उन दोनों की विशेष्यनिष्ठ (रक्तरूपनिष्ठ) अवच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पत्ति के प्रति विशेष्यनिष्ठ (रक्तरूपनिष्ठ) दोषों को तत्तत्सम्बन्धेन (अवच्छेदकता सम्बन्धेन या आश्रयतासम्बन्धेन) अर्थात् रक्तरूपावच्छिन्नदोष लेने पर दोष का अवच्छेदक रक्तरूप। अतः अवच्छेदकता सम्बन्ध से दोष रक्तरूप में रहेगा और रक्तरूप आश्रित दोष लेने पर दोष का आश्रय = रक्तरूप। अतः आश्रयता सम्बन्ध से दोष रक्त में रहेगा। इस प्रकार से अवच्छेदकता सम्बन्धेन या आश्रयतासम्बन्धेन कारणता मानी जाती है। यहां पर विशेष्यनिष्ठ अवच्छेदकता सम्बन्ध जो कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध है। वह विशेष्य में है और विशेष्यनिष्ठ तत्तत्सम्बन्ध जो कारणतावच्छेदकसम्बन्ध है वह भी विशेष्य में है। अतः दोनों (नीलरूप और दोष) एक ही विशेष्य (रक्तरूप) में रहने से कार्य (नीलरूप और नीलरूप का संसर्ग) कारण (दोष) दोनों में बन जायेगा। यहां पर कार्यकारण में समानाधिकरणता को दिखलाने के लिए ही दो बार विशेष्यनिष्ठ कहा गया है। कार्यकारणभाव का आकार होगा—अवच्छेदकता— सम्बन्धेन नीलरूप और नीलरूप के संसर्ग की उत्पत्ति के प्रति अवच्छेदकता सम्बन्धेन या आश्रयतासम्बन्धेन दोष कारण होता है। यद्यपि अवच्छेदकता सम्बन्धेन रक्तरूप में नीलरूप और उसके संसर्ग की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन हेतुता

लघुचन्द्रिका

कल्प्यते॥१५॥

एवमवच्छेदकतासम्बन्धेन तादात्म्यस्योत्पत्तौ स्वपरिणामाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टमज्ञानं तादात्म्यभिन्नस्वपरिणामनिष्ठविषयतासम्बन्धेन हेतुः। स्वम्=कारणीभूतमज्ञानम्, तस्य परिणामः=

सत्यानन्दप्रबोधिका

है किन्तु व्यावहारिक स्थल पर कहीं गुण की अवच्छेदकता प्रसिद्ध नहीं है। अतः प्रसिद्ध न होने के कारण पूर्वपक्षी नहीं मानता। भ्रम स्थल पर दोष की हेतुता सर्वमान्य है। अतः प्रसिद्ध प्रदर्शनार्थ दोष को हेतु कहा गया। १५॥

यहां पर पूर्वपक्षी का कथन है कि “इदं रजतम्” इस आकार के निर्वाह के लिए रजत और रजततादात्म्य की इदमवच्छिन्नचैतन्य में अवच्छेदकतासम्बन्ध से उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन इदम् को कारण माना जा सकता है, क्योंकि यहां कारण (व्यावहारिक इदम्) कार्य (प्रातिभासिक रजतादि) के उत्पत्ति के पूर्व में था, परन्तु “रजतमिदम्” इस आकार के निर्वाह के लिए रजतावच्छिन्नचैतन्य में इदंतादात्म्य की (न कि इदम् की, क्योंकि इदम् तो भ्रम से पूर्व ही विद्यमान है। अतः इदंतादात्म्य की) अवच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पत्ति के प्रति तादात्म्येन रजत को कारण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इदंतादात्म्य और रजत ये दोनों ही एककाल (भ्रमकाल) में ही उत्पन्न होते हैं। अर्थात् रजत भ्रमकाल के पूर्व में विद्यमान ही नहीं होता है। जबकि कारण को कार्य के अव्यवहितपूर्व क्षण में विद्यमान रहना चाहिए। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि अवच्छेदकता सम्बन्ध से रजतावच्छिन्नचैतन्य में इदंतादात्म्य की उत्पत्ति के प्रति अज्ञान को हेतु मानेंगे, तो प्रथम प्रश्न होगा कि कार्य जो इदंतादात्म्य है, वह कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध (अवच्छेदकतासम्बन्ध) से रजत में रहेगा किन्तु कारण जो अज्ञान है, वह किस सम्बन्ध से रजत में रहेगा। अर्थात् कारणावच्छेदकसम्बन्ध क्या होगा? तादात्म्य तो हो नहीं सकता, क्योंकि कार्योत्पत्ति से पहले कारण को रहना चाहिए किन्तु कार्योत्पत्ति से पहले रजत ही नहीं था। अतः रजत में तादात्म्येन अज्ञान नहीं रहेगा। दूसरा प्रश्न यह होता है कि यदि अज्ञान को कारण मानेंगे तो अज्ञान अनादि होने के कारण भ्रम के व्यवहित पूर्व में ही रजतावच्छेदेन इदंतादात्म्य की उत्पत्ति क्यों नहीं मानते हो? उक्त दोनों प्रश्नों का समाधान देते हुए कह रहे हैं कि अवच्छेदकतासम्बन्ध से ज्ञान में जो इदंतादात्म्य उत्पन्न होगा, वह रजतावच्छेदेन होता है घटावच्छेदेन नहीं। अतः रजत अवच्छेदक है। इसलिए कार्य (इदंतादात्म्य) रजतनिष्ठ अवच्छेदकतासम्बन्ध से ज्ञान में उत्पन्न होगा। अतः कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध=अवच्छेदकता सम्बन्ध। इस सम्बन्ध से कार्य जाकर रजत में बैठेगा। इस प्रकार कार्य को रजत में बैठाया गया। अब कार्य का कारण क्या है? वह रजत में कैसे बैठेगा? उसको बतला रहे हैं। अज्ञान के परिणाम (रजत—रजततादात्म्य और इदंतादात्म्य) के अव्यवहितपूर्वत्व से विशिष्ट जो अज्ञान है, वह अज्ञान तादात्म्य से भिन्न अज्ञान के परिणाम जो रजत—रजततादात्म्य और इदंतादात्म्य है, तन्निष्ठ जो विषयतासम्बन्ध है, इस सम्बन्ध से अज्ञान हेतु बनता है। अर्थात् अज्ञान के परिणाम रजतादि के अव्यवहित पूर्वत्व से विशिष्ट अज्ञान कारण है और कारणतावच्छेदक सम्बन्ध है—तादात्म्य से भिन्न अज्ञान के परिणाम जो रजतादि, तन्निष्ठविषयतासम्बन्ध। इस सम्बन्ध से कारण (उक्त अज्ञान) जाकर रजत में बैठेगा, जिस रजत में अवच्छेदकता सम्बन्ध से इदंतादात्म्य रूप कार्य बैठा है। इसी को आगे स्वयं ही आचार्यप्रवर स्पष्ट कर रहे हैं। स्व का अर्थ है—अज्ञान। उस अज्ञान का

लघुचन्द्रिका

रजतादिकम्, तदाकारावृत्तिश्च ; तदव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टमज्ञानं रजताद्युत्पत्तेरव्यवहितपूर्वक्षण एवास्ति, इति रजताद्युत्पत्तिक्षण एवेदमादिविशेष्यतादात्म्यं रजताद्यवच्छेदेन, इदमाद्याकार—

सत्यानन्दप्रबोधिका

परिणाम जो रजतादि और रजताकार अविद्यावृत्ति है। इनके अव्यवहितत्व से विशिष्ट अज्ञान रजतादि के अव्यवहित पूर्वक्षण में ही है। (एव पद के द्वारा व्यवहित क्षण की व्यावृत्ति की गयी है। ऐसा होने से पूर्वपक्षी का जो द्वितीय प्रश्न था कि यदि अज्ञान को कारण मानोंगे तो अज्ञान अनादि होने के कारण भ्रम के व्यवहित पूर्वक्षणों में भी रजतावच्छेदेन इदंतादात्म्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। इसका खण्डन हो गया क्योंकि अव्यवहितत्व से विशिष्ट अज्ञान को हेतु माना गया है, न कि व्यवहितत्व से विशिष्ट अज्ञान को) अतः रजतादि के उत्पत्ति क्षण में ही रजतरूप विशेष्य का तादात्म्य (इदंतादात्म्य) रजताद्यवच्छेदेन उत्पन्न होता है। (लघुचन्द्रिका में जहां पर “इदमादिविशेष्यतादात्म्यम्” लिखा है, वहां “इदं रजतम्” इसको लक्ष्यकर के इदंरूप विशेष्य का तादात्म्य रजततादात्म्य लेना है किन्तु प्रकृत में “रजतमिदम्” इस स्थल को लक्ष्यकर के कार्यकारणभाव बनाया जा रहा है। अतः आदि पद से रजतरूपविशेष्य का तादात्म्य (इदंतादात्म्य) लेना चाहिए।) इदंतादात्म्य की उत्पत्ति के साथ ही इदमाद्याकार मनोवृत्ति का तादात्म्य भी रजताकार अविद्यावृत्ति अवच्छेदेन उत्पन्न होता है। यद्यपि इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति तो रजत उत्पत्ति के पहले हो गयी थी, क्योंकि वह वृत्ति इदम् के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने से उत्पन्न होती है। अतः अन्तःकरण इदम् देश में पहुंचकर इदमाकारेण परिणत होता है। इस प्रकार से रजतोत्पत्ति से पूर्व ही इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति बनती है, तथापि रजताकाराविद्यावृत्त्यनुयोगिक इदमाकारमनोवृत्तिप्रतियोगिक तादात्म्य की उत्पत्ति तो रजतोत्पत्ति क्षण में ही होती है। दोनों वृत्ति के तादात्म्य हो जाने के कारण ही उस मिलितवृत्ति में प्रतिफलित (अभिव्यक्त) चैतन्यरूप एक ही ज्ञान होता है। उक्त दोनों वृत्तियों में तादात्म्य न मानने पर दोनों वृत्तियों में प्रतिफलित चैतन्य भी भिन्न—भिन्न होने के कारण दो ज्ञान मानने की आपत्ति होगी। यहां तक कार्य क्या है? और कारण क्या है? इसको स्पष्ट किया गया। अर्थात् भ्रान्त पदार्थ की उत्पत्ति के प्रति जब स्वपरिणामाव्यवहितपूर्वकालीन अज्ञान को कारण माना गया तब उक्त पूर्वकाल के ठीक अव्यवहित उत्तरकाल (भ्रमकाल अर्थात् रजतादि के उत्पत्ति क्षण) में भ्रान्त पदार्थ (रजतविशेष्यकतादात्म्य और इदमाकार मनोवृत्ति के साथ रजताकाराविद्यावृत्ति का तादात्म्य—ये दोनों भ्रान्त पदार्थ) उत्पन्न होंगे। पहले कहा जा चुका है कि सभी भ्रान्त पदार्थ किसी अवच्छेदेन चैतन्य में उत्पन्न होते हैं। अब उसी अवच्छेदक को बतला रहे हैं कि रजतावच्छेदेन चैतन्य में रजतविशेष्यकतादात्म्य (इदं तादात्म्य) उत्पन्न होगा और इदमाकारमनोवृत्ति के साथ रजताकाराविद्यावृत्ति का तादात्म्य जो उत्पन्न होगा, वह भी रजताकाराविद्यावृत्त्यवच्छेदेन चैतन्य में होगा। इस प्रकार दोनों कार्य जिस चैतन्य में उत्पन्न होते हैं, उस चैतन्य का अवच्छेदक रजत ही है। जैसे इदंतादात्म्य रूप कार्य रजतावच्छिन्नचैतन्य में उत्पन्न हुआ है। अतः कार्यतावच्छेदक रजत है। इसी प्रकार इदमाकारमनोवृत्ति के साथ रजताकाराविद्यावृत्ति का तादात्म्यरूप कार्य रजताकाराविद्या—वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य में है। अतः यहां भी कार्यतावच्छेदक रजत ही है। इस प्रकार से कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध (अवच्छेदकतासम्बन्ध) से सभी कार्य रजत में उत्पन्न हो रहे हैं। कार्योत्पत्ति का कारणीभूत उक्त अज्ञान किस सम्बन्ध से रजत में रहेगा? इसका निरूपण प्रारम्भ हो रहा है।

लघुचन्द्रिका

मनोवृत्तितादात्म्यं रजताकारविद्यावृत्त्यवच्छेदेनोत्पद्यते, स्वमज्ञानं तत्परिणामो रजतादिकं तदाकारा वृत्तिश्च तन्निष्ठा विषयतेष्वज्ञानादेरस्तीति सा सम्बन्धः। स्वपरिणामे भाविनि तादात्म्यादिसम्बन्धेन पूर्वमज्ञानस्यासत्त्वात् स्वपरिणामनिष्ठविषयतेत्युक्तम्। विषयतासम्बन्धस्य च भावि-भूतविषये

सत्यानन्दप्रबोधिका

इसका निरूपण हो जाने से प्रथम प्रश्न का समाधान हो जायेगा। सम्बन्ध का आकार है—तादात्म्यभिन्नस्वपरिणामनिष्ठविषयता। यहाँ स्व का अर्थ है—अज्ञान, उसका परिणाम रजतादि और रजताकारविद्यावृत्ति, इनमें ईश्वरज्ञान, योगीज्ञान, ईश्वरीय इच्छादि की जो विषयता है। वह विषयता सम्बन्धरूप है। प्रश्न होता है कि उक्त विषयता से अज्ञानीय विषयता का ग्रहण क्यों नहीं किया गया? इसका समाधान यह है कि रजतविषयक अज्ञान से इदंतादात्म्यादि की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि शुक्त्यज्ञान से ही रजतादि उत्पन्न होते हैं न कि रजत के अज्ञान से रजत उत्पन्न होता है। अतः उक्त विषयता से अज्ञानीय विषयता लेने पर अज्ञान का विषय शुक्ति होगा, रजत नहीं। तब उक्त विषयतारूप सम्बन्ध से अज्ञान रजत में नहीं बैठ पायेगा। जबकि कार्य रजत में बैठा है और कारण (अज्ञान) को भी रजत में बैठाना है। इसलिए अज्ञानीय विषयतारूप सम्बन्ध न कहकर उक्त विषयतारूप सम्बन्ध कहा गया। अज्ञान रजतादि का कारण है। इसलिए अज्ञान से रजतादि उत्पन्न होने वाला है— ऐसा भाविरजतादिविषयक ज्ञान ईश्वर को था। अर्थात् भ्रम के अव्यवहित पूर्वक्षण में ईश्वर को यह ज्ञान था कि अव्यवहित उत्तरक्षण में देवदत्त को भ्रम होने वाला है। अतः तादृश ज्ञानीय विषयता रजत में चली जाने से उक्त सम्बन्ध से अज्ञान रजत में जाकर बैठ जायेगा। इस प्रकार से रजत में कारण (अज्ञान) भी बैठ गया। कार्य रजत में बैठा है— इसका स्पष्टीकरण पीछे किया जा चुका है। कारणातावच्छेदक सम्बन्ध से तादात्म्य सम्बन्ध का ग्रहण क्यों नहीं किया गया? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि अज्ञान का परिणाम रजत और रजताकारविद्यावृत्ति जो भविष्य में होने वाले हैं, उनमें (अज्ञान परिणामों की उत्पत्ति के पूर्व में ही अज्ञान परिणामों = रजतादियों में) अज्ञान तादात्म्य सम्बन्ध से रह नहीं सकता है, क्योंकि तादात्म्यसम्बन्ध दो वर्तमान पदार्थों में, जिनमें कि भेदाभेद है, उनमें ही सम्भव है। एक पदार्थ वर्तमान में है और दूसरा भावी या भूत पदार्थ है तो उनमें तादात्म्यसंयोगादि सम्बन्ध सम्भव हो ही नहीं सकता है इसलिए कहा गया कि तादात्म्यभिन्नस्वपरिणामनिष्ठविषयतासम्बन्ध। ज्ञान जिस सम्बन्ध से जहाँ रहता है, अज्ञान भी उसी सम्बन्ध से वहाँ रहता है। ज्ञान विषयता सम्बन्ध से अलीक में नहीं रहता है, तो अज्ञान भी विषयता सम्बन्ध से अलीक में नहीं रहता है किन्तु भावी और भूत विषय में ज्ञान जब विषयता सम्बन्ध से रहता है तब अज्ञान भी उस विषयता सम्बन्ध से भावी और भूत विषय में रह जायेगा। अतः अज्ञान भी तादात्म्यभिन्नस्वपरिणामनिष्ठविषयता रूप सम्बन्ध से भावी रजतादि में रह जायेगा। विषयता सम्बन्ध से भावी पदार्थ में ज्ञान अथवा अज्ञान के रहने के कारण ही नैयायिकगण भी ऐसा कहते हैं— ज्ञायमानघटत्वरूप सामान्य घटनिष्ठ अलौकिक मुख्यविशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्यक्ष के प्रति भाविभूतनिष्ठ तथा घटत्वसमवायिनिष्ठ विषयता सम्बन्ध से हेतु है। अर्थात् नैयायिक मत में जिस समय किसी घट में घटत्व का ज्ञान होता है, उस समय ज्ञायमान उस घटत्वरूप सामान्यलक्षणासन्निकर्ष से भूत भावी सभी घटों का प्रत्यक्ष होता है—ऐसा नैयायिक मानता है। ऐसे स्थल पर भूतभावी घटों का प्रत्यक्ष = कार्य है और

लघुचन्द्रिका

ज्ञानादेः सत्त्वादुक्तविषयतासम्बन्धेन भाविन्यप्यज्ञानसत्त्वम्। अत एव 'ज्ञायमानघटत्वरूपं सामान्यं घटवृत्त्यलौकिकमुख्यविशेष्यतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं प्रति स्वसमवायिनिष्ठविषयतासम्बन्धेन भावि-भूतनिष्ठेन हेतुः' इति तार्किका वदन्ति॥ १६॥

रजतादितत्संसर्गयोरिदमाद्यवच्छिन्नत्वात्तदीयचित्तादात्म्यरूपं विषयत्वमपि तथा, इदमादि—

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञायमानघटत्वरूप सामान्य= कारण है। कार्य और कारण को भाविभूत घटों में बैठा रहे हैं जिससे समानाधिकरण धर्मों में कार्य—कारणभाव सिद्ध किया जा सके। विशेष्यता न कहकर मुख्य विशेष्यता क्यों कहा गया? इसका समाधान यह है कि "अयं घटः" इस ज्ञान के विषय घट—घटत्व और उन दोनों का समवाय सम्बन्ध। इन विषयों में से समवाय सम्बन्ध विशेषण है और घट तथा घटत्व विशेष्य है। किन्तु जब घटत्व घट में रहता है तब तो घटत्व विशेषण और घट विशेष्य होता है। इस प्रकार से घटत्व विशेषण और विशेष्य दोनों हो गया। इसके कारण घटत्व में अमुख्य विशेष्यता रहेगी और घट में मुख्यविशेष्यता रहेगी। यदि मुख्यविशेष्यता नहीं कहते केवल विशेष्यता कहते तब तो विशेष्यता (गौण विशेष्यता) घटत्व में भी रहती है किन्तु कार्य (प्रत्यक्ष) और कारण (घटत्व) दोनों का समानाधिकरण तो घट मिलेगा, घटत्व में नहीं। अतः मुख्यविशेष्यता कहा गया। प्रत्यक्ष का मुख्यविशेष्य घट ही है, घटत्व नहीं। अतः घट में कार्य और कारण का समानाधिकरण मिल जायेगा। अलौकिक पद न देने पर प्रत्यक्ष (कार्य) मुख्यविशेष्यता सम्बन्ध से वर्तमान घट में ही बैठता न कि भूतभावी घटों में। अतः अलौकिक कहा गया। केवल मुख्यविशेष्यता कहते तब मुख्यविशेष्यता से लौकिक मुख्यविशेष्यता का भी ग्रहण हो जाता तब उक्त सम्बन्ध से प्रत्यक्ष केवल वर्तमान घटों में ही बैठता, भूतभावी घटों में नहीं। इसलिए अलौकिक मुख्यविशेष्यता कहा गया। इस प्रकार से कार्य (प्रत्यक्ष) अलौकिक मुख्यविशेष्यतासम्बन्ध से भाविभूत घटों में रहा— यह सिद्ध किया गया। आगे कारणतावच्छेदकसम्बन्ध कहा जा रहा है। कारणतावच्छेदकसम्बन्ध = स्वसमवायिनिष्ठविषयता सम्बन्ध। स्व=घटत्व, उसका समवायी =घट, उस घट में जो विषयता रहती है, वह अलौकिक प्रत्यक्ष की विषयता है, जो वर्तमान—भूत—भावी सभी घटों में रहती है। इस प्रकार से घटत्व उक्त विषयता सम्बन्ध से वर्तमान भूतभावी सभी घटों में रह गया। दृष्टान्त में जैसे घटत्व कारण को वर्तमान भूतभावी घटों में बैठाया गया है। ऐसे स्थल पर विषयता पद से स्वीय (घटत्वीय) विषयता नहीं लिया जाता है किन्तु ज्ञानीयविषयता लिया जाता है, वैसे ही दार्ष्टान्त में भी अज्ञानरूप कारण को जब रजत में बैठाना होता है तब कारणतावच्छेदक सम्बन्ध = तादात्म्याभिन्नस्वपरिणामनिष्ठविषयता सम्बन्ध कहा गया है, वहां विषयता सम्बन्ध से स्वीय (अज्ञानीय) विषयता नहीं लिया जाता है, किन्तु ईश्वर ज्ञानीय विषयता को लिया जाता है। इस प्रकार से आचार्यप्रवर ने पूर्वोक्त कथन में नैयायिकों की सम्मति को दिखलाया॥ १६॥

“इदं रजतम्” इस आकार को ध्यान में रखकर कह रहे हैं कि रजततादात्म्य दो प्रकार का होता है। प्रथम—इदमनुयोगिकरजतप्रतियोगिकतादात्म्य। द्वितीय—इदमवच्छिन्नचिदनुयोगिकरजत—प्रतियोगिकविषयतारूपचित्तादात्म्यसम्बन्ध। (तादात्म्य का अर्थ सम्बन्ध और विषयता दोनों ही किया गया है।) इसमें से रजत और तादात्म्यरूप रजतसंसर्ग इदमवच्छिन्न है। इसको अब तक कहा गया। आगे यह कह रहे हैं कि रजत और रजत के संसर्ग (तादात्म्य) के साथ जो चित् का

लघुचन्द्रिका

विषयत्वावच्छिन्नञ्च सम्भवति, इदमादिविषयत्वस्य तु रजतादिप्रतियोगिकतादृशसंसर्गविषय-
त्वावच्छिन्नत्वे मानाभावात्, 'रजतमिदम्' इति द्वितीयाकारसिद्ध्यर्थं रजतादितद्विषयत्वावच्छेदेन
तादात्म्योत्पत्तिः स्वीक्रियते। तस्य च तादात्म्यस्येदमादिप्रतियोगिकत्वसिद्ध्ये प्रतियोगितासम्बन्धेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

तादात्म्य है। (चित् के तादात्म्य को विषयता शब्द से कह रहे हैं।) वह भी इदमवच्छिन्न है। अर्थात् रजत और रजत संसर्ग का वृत्त्यवच्छिन्नचिदरूपज्ञानतादात्म्यरूप विषयता भी इदमवच्छिन्न है, क्योंकि यह नियम है कि — "यस्य वस्तुनो यदवच्छिन्नत्वं तत्सम्बन्धस्यापि तदवच्छिन्नत्वम्।" रजतविषयता जब इदमवच्छिन्न है, तब रजतविषयता इदंविषयता से भी अवच्छिन्न होगी, क्योंकि यह नियम है कि "यस्य यदवच्छेदकत्वं तत्सम्बन्धस्यापि तदवच्छेदकत्वम्।" अर्थात् इदम् जो है वह रजतविषयता और रजततादात्म्यविषयता का अवच्छेदक है। इसलिए इदंविषयता भी ("तत्सम्बन्धस्यापि" चित् के साथ इदम् का संसर्ग = इदंविषयता भी) रजतविषयता और रजततादात्म्यविषयता का अवच्छेदक होगी। इसलिए "इदं रजतम्" इस आकार का निर्वाह हो जाता है। इदंविषयता (रजतत्वावच्छिन्नचिदनुयोगिकइदंप्रतियोगिकतादात्म्यरूपविषयता) रजतविषयता (इदमवच्छिन्नचिदनुयोगिकरजतप्रतियोगिकतादात्म्यरूपविषयता) से अवच्छिन्न नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् जब इदंविषयता रजतविषयता का अवच्छेदक है, तब इदंविषयता रजतविषयता का अवच्छेद नहीं हो सकती है, क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि जो जिसका अवच्छेदक है वह उसका अवच्छेद नहीं हो सकता है। अतः "इदं रजतम्" इस आकार में भासने वाले इदमवच्छिन्नचिदनुयोगिकरजतप्रतियोगिकतादात्म्य के द्वारा निर्वाह इदंविषयता और रजतविषयता के द्वारा "रजतमिदम्" इस आकार का निर्वाह नहीं हो सकता है, क्योंकि दूसरे आकार में रजतविषयता अवच्छेदकतया और इदंविषयता अवच्छेद्यतया भास रहे हैं। यदि ये दोनों उक्त तादात्म्य के द्वारा निरूपित होते हैं तब तो परस्पर अवच्छेद-अवच्छेदकभाव की आपत्ति आने से असम्भव हो जायेगा। अतः दूसरे आकार में भासने वाली इदंविषयता और रजतविषयता दूसरे तादात्म्य से निरूपित होगी। उस तादात्म्य का आकार होगा = रजतत्वावच्छिन्नचिदनुयोगिकेदंप्रतियोगिकतादात्म्य। अब प्रश्न होता है कि "इदं रजतम्" इसमें इदमवच्छेदेन रजतप्रतियोगिकतादात्म्य और "रजतमिदम्" इसमें रजतावच्छेदेन इदंप्रतियोगिक तादात्म्य की उत्पत्ति होगी, किन्तु उक्त दोनों तादात्म्यों में रजतप्रतियोगिकत्व और इदंप्रतियोगिकत्व की सिद्धि किस प्रमाण से होगी? अर्थात् जैसे अवच्छेदकता की सिद्धि के लिये पीछे कार्यकारणभाव दिखलाया गया था। उसी प्रकार उक्त तादात्म्यों में इदमादि प्रतियोगिकत्व की सिद्धि के लिये अन्य कोई कार्यकारणभाव दिखाना चाहिए। उसी को दिखला रहे हैं। जहां रजतावच्छेदेन इदंप्रतियोगिकतादात्म्य उत्पन्न होता है, वहां वह तादात्म्य कार्य है। वह इदंनिष्ठप्रतियोगितासम्बन्ध से इदम् में रहेगा और स्व=अज्ञान, उसका आश्रय= इदमवच्छिन्नचैतन्य उसका अवच्छेदक=इदम्। अतः तादृश अवच्छेदकता सम्बन्ध से अज्ञान भी इदम् में चला गया। ऐसा होने से समानाधिकरण धर्मों में कार्यकारणभाव सिद्ध हो जायेगा। इसी प्रकार आगे भी समानाधिकरण धर्मों में कार्यकारणभाव दिखलाते हुए कह रहे हैं कि जहां रजत तादात्म्य उत्पन्न होगा, वहां वह तादात्म्य कार्य होगा और वह तादात्म्य प्रतियोगिता सम्बन्ध से रजत में रहेगा और कारण=अज्ञान, उसका आश्रय=रजतावच्छिन्नचैतन्य, उसका अवच्छेदक रजत। अतः अवच्छेदकता

लघुचन्द्रिका

तादात्म्योत्पत्तौ स्वाश्रयतावच्छेदकत्वसम्बन्धेनोक्ताज्ञानस्य हेतुतान्तरं कल्प्यते। तथाच भ्रमपूर्वसिद्धं यदिदमादिकं तद्विषयत्वञ्च, तदेव रजतादौ तत्तादात्म्ये तयोर्विषयत्वे च तावदुपहित-
रूपेणावच्छेदकम्।१७॥

यत्तु भ्रमकाल इदमर्थस्य तादात्म्यं तत्प्रतियोगित्वोपहितमिदमादिकञ्च जायते, यच्च तयोर्विषयत्वम्, तानि तदुपहिततादृशरजतादिनाऽवच्छिद्यन्ते। एवञ्च मूलसंयोगादीनामिव

सत्यानन्दप्रबोधिका

सम्बन्ध से रजत में रहेगा। इस प्रकार के कार्यकारणभाव के बल पर उक्त दोनों तादात्म्यों में रजतप्रतियोगिकत्व और इदंप्रतियोगिकत्व की सिद्धि हो जायेगी। पीछे जो कार्यकारणभाव सिद्ध किया गया था, उससे भिन्न यह कार्यकारणभाव है—इसको स्पष्ट करने के लिये लघुचन्द्रिकाकार ने कहा—हेतुतान्तरं कल्प्यते। इस प्रकार तादात्म्यद्वय के स्वीकार करने पर भ्रम से पूर्व सिद्ध जो इदम् और इदंविषयता हैं। वे इदम् और इदंविषयता ही रजत, रजततादात्म्य, रजतविषयता, रजततादात्म्यविषयता में रजतादिरूप तत्तदुपाधियों से उपहितरूप से अवच्छेदक होते हैं। अर्थात् इदम् और इदंविषयता ये दोनों अवच्छेदक हैं। किसके अवच्छेदक है? इस पर कहा कि रजत और रजततादात्म्य का अवच्छेदक है इदम् और रजतविषयता तथा रजततादात्म्यविषयता का अवच्छेदक है—इदंविषयता। किन्तु इदम् और इदंविषयता जो अवच्छेदक है, वह इदन्त्वेन और इदंविषयतात्वेन नहीं किन्तु रजतोपहितरूपेण इदम् रजत का अवच्छेदक है और रजततादात्म्यो-
पहितरूपेण इदम् रजततादात्म्य का अवच्छेदक है। इसी प्रकार रजतविषयतोपहितरूपेण इदंविषयता रजतविषयता का अवच्छेदक है और रजततादात्म्यविषयता से उपहितरूपेण इदंविषयता रजततादात्म्यविषयता का अवच्छेदक है। इदन्त्वेन इदम् को रजतावच्छेदक मानने में आपत्ति यह है कि द्वितीय आकार में इदन्त्वेन इदम् रजतावच्छेद्य हो जायेगा। यद्यपि दोनों आकारों में प्रतीयमान इदम् भिन्न—भिन्न हैं, क्योंकि प्रथम आकार में इदम् जिस तादात्म्य से निरूपित है, उस तादात्म्य से भिन्न तादात्म्य से निरूपित इदम् द्वितीय आकार में है, किन्तु इदन्त्व तो भिन्न—भिन्न नहीं हो सकता है। इसलिए इदम् और रजत के परस्परवच्छिन्नत्व की आपत्ति न होने पर भी इदन्त्व में भिन्नता सिद्ध नहीं होगी। अतः वही इदन्त्व रजतावच्छेदकता का अवच्छेदक है और वही इदन्त्व रजतावच्छेद्यता का भी अवच्छेदक होने लगेगा, जो की माना नहीं जा सकता है। अर्थात् 'इदम् रजतम्' इस स्थल पर रजत का अवच्छेदक इदम् तथा रजत् के अवच्छेदक का अवच्छेदक इदन्त्व है और "रजतमिदम्" इस स्थल पर रजत से अवच्छेद्य इदम् और रजत के अवच्छेद्यता का अवच्छेदक इदन्त्व होगा, जबकि यह मानना सम्भव नहीं है। अतः उपहितरूपेण इदम् को अवच्छेदक माना गया।१७॥

"रजतमिदम्" इस आकार को ध्यान में रखकर कह रहे हैं कि इदंप्रतियोगिकतादात्म्य और तादात्म्यप्रतियोगित्वोपहित इदम् ये दोनों रजतावच्छिन्नचित् में उत्पन्न होंगे और ये दोनों अवच्छेद्य होंगे। इस प्रकार से प्रथम आकार में जो इदम् अवच्छेदक था, वह द्वितीय आकार में अवच्छेद्य है। अतः दोनों इदम् भिन्न—भिन्न हैं। इसी प्रकार इदं विषयता और इदंतादात्म्यविषयता जो रजतावच्छिन्नचित् में उत्पन्न होते हैं, वे सभी इदं तादात्म्य से उपहित तथा इदंतादात्म्य के अनुयोगिरूप रजतादि से अवच्छिन्न होते हैं। इस प्रकार तादात्म्यरूप उपाधि के भेद से इदमादि का भी भेद मानने पर मूल और संयोगादि के जैसे परस्पर अनवच्छिन्नत्व नियम का व्याघात नहीं

लघुचन्द्रिका

परस्परानवच्छिन्नत्वनियमो न व्याहतः, न वा 'परस्परभिन्नसर्वविषयकत्वरूप आकारयोर्भेदनियमो व्याहतः ; 'इदं रजतम्' इत्याकारे तादृशावच्छेद्यावच्छेदकयोरेव भानेन जायमानस्य रजत-प्रतियोगिकतादात्म्यस्य प्रतियोगित्वोपहितरजतस्य तदनुयोगित्वोपहितेदमर्थस्य च भानात्। 'रजतमिदम्' इत्याकारे तु जायमानस्येदंप्रतियोगिकतादात्म्यस्य प्रतियोगित्वोपहितेदमर्थस्य तदनुयोगित्वोपहितरजतस्य चावच्छेद्यावच्छेदकतया भानेनाकारद्वयविषयाणां मिथो भिन्नत्वात्॥ १८॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

होता है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि "इदं रजतम्" इस आकार में दो अवच्छेदक (इदम् और इदंविषयता) और चार अवच्छेद्य (इदंतादात्म्य, इदंतादात्म्यप्रतियोगित्वोपहितेदम्, इदंतादात्म्य की विषयता और इदं तादात्म्यप्रतियोगित्वोपहितेदंविषयता) और "रजतमिदम्" में जो दो अवच्छेदक (रजत और रजतविषयता) और चार अवच्छेद्य हैं। प्रश्न होता है कि इन दोनों आकारों में भासने वाले सभी एक दूसरे से भिन्न हैं—ऐसा न मानकर केवल इदम् में ही क्यों न भेद मान लिया जाय? इसके समाधान में कह रहे हैं— न वा परस्परेति। मूल में जो परस्परभिन्नसर्वविषयकत्वरूप कहा गया, वहां विषयकत्वरूप का अर्थ है— विषयताव्यापाररूप। विषयताव्यापाररूप का अर्थ है यह है कि—यह नियम है कि पहले अर्थ बोध हो तब उसके अनुसार वाक्य की रचना की जाती है। विभिन्न आनुपूर्वी वाले शब्द के प्रति (इदं रजतम् और रजतमिदम् इस प्रकार शब्द के प्रति) अर्थबोध को कारण माना जाता है और व्यापार वाले कारण को ही करण माना जाता है। अतः अर्थबोध रूप करण और शब्दप्रयोगरूप कार्य के बीच का व्यापार= अर्थबोध से जन्य अर्थनिष्ठा विषयता। अर्थात् पहले अर्थबोध होता है, तब अर्थ में विषयता आती है और तब शब्द प्रयोग होता है और उक्त व्यापाररूपा जो ज्ञानीया विषयता वही शाब्दीविषयता है, क्योंकि ज्ञान का जो विषय होता है, शब्द का भी वही विषय होता है। मूल में जो "आकारयोः" कहा गया, वहां आकार शब्द से भिन्न—भिन्न आनुपूर्वीवाले दो शब्द (वाक्य) समझना है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक आकार (एक प्रकार की आनुपूर्वी वाला शब्द) में जो जो अर्थनिष्ठा विषयता भासती है, उनमें से कोई भी विषयता दूसरे आकार (दूसरे प्रकार की आनुपूर्वी वाला शब्द) में नहीं भासती है, यह नियम है। यह नियम भी तादात्म्यादि को भिन्न—भिन्न मानने के कारण ही सुरक्षित रह पायेगा। इसी को स्पष्ट करते हुए आगे कह रहे हैं कि "इदं रजतम्" इस आकार में रजतादि का अवच्छेद्य रूप से और इदमादि का अवच्छेदक के रूप से भान होने के कारण जायमान रजतप्रतियोगिकतादात्म्य के रजततादात्म्यीय प्रतियोगिकत्व से उपहित रजत और रजततादात्म्यीयानुयोगिकत्व से उपहित इदमर्थ का भान होता है। जबकि "रजतमिदम्" इस भ्रमात्मक ज्ञान रूप आकार में इदंप्रतियोगिकतादात्म्य के इदंतादात्म्यीयप्रतियोगिकत्व से उपहित इदमर्थ और इदंतादात्म्यीयानुयोगिकत्व से उपहित रजत का भान होता है। उक्त दोनों विषयों (इदं तादात्म्यीय प्रतियोगित्वोपहितेदम् और इदं तादात्म्यीयानुयोगित्वोपहितरजत) में से प्रथम अवच्छेद्यतया और द्वितीय अवच्छेदकतया भान होने के कारण "इदं रजतम्" और "रजतमिदम्" इस भ्रमात्मक आकारद्वय के विषयों में परस्पर भिन्नत्व है॥ १८॥

१. परस्परभिन्नसर्वविषयकत्वमित्यत्र विषयताव्यापाररूपः। विषयताव्यापाररूपश्च—अर्थ बुद्ध्वा वाक्यरचनेति नियमेनार्थबोधस्य विभिन्नानुपूर्वीकशब्दं प्रति करणत्वात्तज्जन्यविषयताया अर्थनिष्ठायाः शब्दं प्रति व्यापारत्वात्सैव व्यापाररूपा ज्ञानीया विषयता शाब्दी विषयतेत्यर्थः। स्वजनक ज्ञानविषयेणैव शब्दस्य सविषयकत्वादिति भावः।

लघुचन्द्रिका

नच—इदमाद्यवच्छेदेन जायमानतादात्म्यस्य रजतादौ प्रतियोगितासम्बन्धेनोत्पत्त्या तत्रोक्त—
सम्बन्धेनाज्ञानस्याभावाद् व्यभिचार इति—वाच्यम् ; रजतादेरुक्ततादात्म्यस्य प्रतियोगिताऽभावेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

पीछे सिद्धान्ती ने कहा था कि इदमवच्छेदेन रजतप्रतियोगिकतादात्म्य उत्पन्न होता है। वहां तादात्म्य में रजतप्रतियोगिकत्व की सिद्धि के लिए जो कार्यकारणभाव बनाया गया था। उसमें व्यभिचार की शङ्का पूर्वपक्षी करते हुए कह रहा है कि “इदं रजतम्” इस स्थल पर इदमवच्छेदेन जायमान रजतप्रतियोगिकतादात्म्य की रजत में प्रतियोगितासम्बन्ध से उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध (प्रतियोगिकत्वसम्बन्ध) से रजतप्रतियोगिकतादात्म्य रजत में रहेगा किन्तु रजत प्रतियोगिकतादात्म्य का कारण जो अज्ञान है। वह कारणातावच्छेदक सम्बन्ध=स्वाश्रयतावच्छेदकत्वसम्बन्ध से रजत में नहीं रहेगा। क्योंकि रजतप्रतियोगिकतादात्म्य का कारण जो अज्ञान है, उसका आश्रय रजतावच्छिन्नचैतन्य हो नहीं सकता है, क्योंकि अज्ञान जब कारण है, तब वह भ्रम के पहले रहेगा और अज्ञान जिसमें रहेगा, उस आश्रय को भी भ्रम से पहले रहना चाहिए, किन्तु रजत तो भ्रम से पहले नहीं है। यदि स्वाश्रयतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से अज्ञान को इदम् में बैठते हैं। अर्थात् स्व=अज्ञान, उसका आश्रय इदमवच्छिन्नचैतन्य, उसका अवच्छेदकत्व इदम् में। ऐसा करने पर कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध से कार्य (रजतप्रतियोगिकतादात्म्य) रजत में बैठेगा और कारणतावच्छेदकसम्बन्ध (स्वाश्रयतावच्छेदकत्वसम्बन्ध) से कारण अज्ञान में बैठेगा। जब कि समानाधिकरण धर्मी में ही कार्यकारणभाव माना जाता है। दूसरी बात यह है कि अज्ञान का आश्रय यदि रजतावच्छिन्नचैतन्य को माना जाता है तब तो उक्त सम्बन्ध से अज्ञान रजत में चला जाता किन्तु रजत तो अज्ञान से उत्पन्न होता है। अर्थात् अज्ञान का परिणाम रजत है। अतः अज्ञान अपने परिणाम में रह जाने से अपने में ही रह गया। क्योंकि अपने से अपना परिणाम भिन्न नहीं होता है। अतः आत्माश्रयदोष की आपत्ति होगी। इस प्रकार से पूर्वपक्षी ने यह दिखलाया कि उक्त कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से यदि अज्ञान इदम् में बैठता है—तो भी दोष होगा और यदि रजत में बैठता है, तो भी दोष होगा—यही पूर्वपक्षी के कथन का आशय है। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि रजत में इदमवच्छेदेन जायमान तादात्म्य के प्रतियोगित्व का अभाव होने पर भी केवल रजत के साथ संसर्ग का भान सम्भव हो जायेगा। अर्थात् यदि उक्त कार्यकारणभाव बनता तब रजत में तादात्म्यीय प्रतियोगित्व की सिद्धि होती, किन्तु जब उक्त कार्यकारणभाव व्यभिचार दोष के कारण बना ही नहीं तब रजत में प्रतियोगित्व की सिद्धि भी नहीं हुयी। इसलिए सिद्धान्त पक्ष से कहा गया कि उक्त कार्यकारणभाव केवल रजतावच्छेदेन जायमान रजत तादात्म्य के लिए है। उक्त कार्यकारणभाव को न मानने पर यह होगा कि वह तादात्म्य रजतप्रतियोगिक नहीं माना जा सकेगा, किन्तु वह तादात्म्यरूप सम्बन्ध रजत का एक सम्बन्ध के रूप से माना ही जा सकता है। इस पर प्रश्न होता है कि रजत जब उक्त तादात्म्य का प्रतियोगी नहीं है, तब उस तादात्म्य से रजत का कोई भी सम्बन्ध नहीं होगा, जैसे कि उक्त तादात्म्य का घट से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि घट उक्त तादात्म्य का प्रतियोगी भी नहीं है और अनुयोगी भी नहीं है। ठीक वैसे ही उक्त तादात्म्य को रजत का सम्बन्ध के रूप से माना नहीं जा सकता है, क्योंकि रजत उक्त तादात्म्य का प्रतियोगी भी नहीं है और अनुयोगी भी नहीं है। यदि वह तादात्म्य रजतसंसर्गतया ज्ञान में भासता है, तब रजत में उक्त तादात्म्य रूप संसर्ग

लघुचन्द्रिका

रजतादिसंसर्गतया भानसम्भवात्। नहि विशेषणविशेष्ययोः संसर्गप्रतियोगित्वानुयोगित्वे विशिष्टबु-
द्ध्योर्विषयौ, येनानुभवबलादेव तयोस्ते सिद्ध्यतः। अथवा रजताद्यवच्छेदेन जायमानतादात्म्यस्यापि
नेदमादिप्रतियोगिकत्वम्, किन्तु तत्संसर्गतया भानमात्रम्, अतो न तादृशकार्यकारणभावाभावेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

का प्रतियोगित्व भी मानना पड़ेगा, क्योंकि विशिष्टज्ञान में वैशिष्ट्य भासता है। जैसे “घटवद्
भूतलम्” में संयोग भासता है। वहां भासमान वैशिष्ट्य प्रतियोगित्व भी भासता है, तभी घट को
विशेषण माना जाता है, क्योंकि वह नियम है कि “भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वं विशेषणत्वम्”
और “भासमानवैशिष्ट्यानुयोगित्वं विशेष्यत्वम्।” अतः “रजततादात्म्यवदिदम्” इस विशिष्टबुद्धि
रूप प्रतीति में जब तादात्म्यरूपसंसर्ग भासता है, तब इदम् रूप विशेष्य में तादात्म्यानुयोगित्व
और रजतरूप विशेषण में तादात्म्यप्रतियोगित्व भी भासता है। यह स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसा
होने पर प्रतियोगिता सम्बन्ध से रजत इदम् में रहेगा किन्तु स्वाश्रयतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से अज्ञान
रजत में न रहने के कारण व्यभिचार दोष होगा। इसका समाधान “न हि” से दे रहे हैं। सिद्धान्ती
का कथन है कि विशिष्टबुद्धिस्थल पर विशेषण में संसर्गप्रतियोगित्व और विशेष्य में संसर्गानुयोगित्व
नहीं भासता है, किन्तु संसर्ग का स्वरूपेण भान होता है। इसी प्रकार प्रतियोगी और अनुयोगी का
भी स्वरूपेण ही भान होता है, संसर्गप्रतियोगित्वेन प्रतियोगी का और संसर्गानुयोगित्वेन अनुयोगी
का भान नहीं होता है। इसलिए “रजततादात्म्यवदिदम्” इस स्थल पर रजत में तादात्म्यप्रतियोगित्व
भी नहीं भासता है और इदम् में तादात्म्यानुयोगित्व भी नहीं भासता है। अतः प्रतियोगितासम्बन्ध
से तादात्म्य न तो रजत में रहता है और स्वाश्रयतावच्छेदकसम्बन्ध से अज्ञान भी रजत में नहीं
रहता है। अतः व्यभिचार दोष नहीं होगा। इस पर प्रश्न होता है कि प्रतियोगित्व को सिद्ध करने
के लिए जो कार्यकारणभाव माना था उसको “इदं रजतम्” इस आकार में माना नहीं, तब
“रजतमिदम्” इस स्थल पर भी प्रतियोगित्व को सिद्ध करने के लिए उक्त कार्यकारणभाव नहीं
मानना चाहिए। इसके समाधान में कह रहे हैं कि “रजतमिदम्” इस आकार के स्थल पर
रजतावच्छेदेन इदंतादात्म्य की जो उत्पत्ति होती है, वहां यद्यपि उक्त कार्यकारणभाव घटित हो
जाता है। अतः इदम् में तादात्म्यप्रतियोगित्व माना जा सकता है, परन्तु “इदं रजतम्” इस
आकार के स्थल पर जब उक्त कार्यकारणभाव का व्यभिचार होने के कारण माना नहीं गया, तब
“रजतमिदम्” इस स्थल पर भी नहीं मानेंगे किन्तु इदंसंसर्गतया भान मात्र मानेंगे। ऐसे होने पर
प्रतियोगिता सम्बन्ध से तादात्म्य की उत्पत्ति और स्वाश्रयतावच्छेदकसम्बन्ध से अज्ञान में
कार्यकारणभाव का अभाव होने पर भी कोई क्षति नहीं होगी। सिद्धान्ती के इस समाधान में
अरुचि यह है कि तादात्म्य को इदमादि प्रतियोगिक न मानने से इदम् को तादात्म्यप्रतियोगित्वोपहित
भी नहीं मान सकते हैं। तब उक्त दोनों आकारों के विषयों में जो परस्पर भिन्नता का सम्पादन
पीछे किया गया था, वह व्यर्थ हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि विशिष्टबुद्धि के विशेषण और
विशेष्य में संसर्गप्रतियोगित्व और संसर्गानुयोगित्व भासते हैं— इस सर्वमान्य नियम को स्वयं ही
ग्रन्थकार आगे स्वीकार करेंगे। अतः “रजतमिदम्” इस आकार में तादात्म्य प्रतियोगित्व इदमर्थ
में मानना आवश्यक है। ऐसा होने पर “इदं रजतम्” इस स्थल पर रजत में कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध

लघुचन्द्रिका

क्षतिः। वस्तुतस्तु दोषादिघटिता सामग्र्येव रजतादिप्रातीतिकप्रतियोगिकतादात्म्ये नियामिका, व्यावहारिकप्रतियोगिके प्रातीतिके तादात्म्ये चाज्ञानाश्रयतावच्छेदकत्वं नियामकम्॥ १९॥

ननु 'रजतमिदम्' इत्याकारसिद्धय इदमादितादात्म्योत्पत्तिस्वीकारो व्यर्थः ; इदन्त्वादि-संसर्गोत्पत्त्यापि तादृशाकारसिद्धेरिति चेत्, न ; तादृशाकारे तादृशस्य संसर्गस्य तादात्म्यस्य वा भानमित्यत्र विनिगमकाभावात्। तस्माद्धर्मयोः संसर्गाविव धर्मिणोस्तादात्म्ये अपि प्रातीतिके

सत््यानन्दप्रबोधिका

(प्रतियोगित्वसम्बन्ध) से कार्य (तादात्म्य) रहने पर भी कारणतावच्छेदक सम्बन्ध (स्वाश्रयतावच्छेदकत्व सम्बन्ध) से अज्ञान के रजत में न रहने के कारण व्यभिचारदोष बना ही रहा। इस अरुचि के कारण वस्तुतस्तु से पूर्वोक्त व्यभिचारदोष वारण करने के लिए समाधान दे रहे हैं कि दो आकारों में जो दो तादात्म्य भासते हैं, उसमें से एक का प्रतियोगी = इदम् व्यावहारिक है और दूसरे का प्रतियोगी = रजत प्रातीतिक है। अतः "इदं रजतम्" इस स्थल पर रजतादि प्रातीतिकनिष्ठ प्रतियोगितासम्बन्धेन तादात्म्य=प्रातीतिकप्रतियोगिकसंसर्ग (रजतप्रतियोगिक तादात्म्य) की उत्पत्ति के प्रति स्वजन्यप्रकारनिष्ठविषयतासम्बन्ध से दोष (अज्ञान) ही हेतु है। (स्व=दोष (अज्ञान), तज्जन्य= रजतप्रतियोगिकतादात्म्य, उसमें प्रकार = रजत, रजतनिष्ठ ईश्वरज्ञानीयविषयता रजत में है।) यहां कार्यतावच्छेदक प्रतियोगिता सम्बन्ध में "रजतादि प्रातीतिकनिष्ठ" विशेषण देने से व्यावहारिक इदमादि में व्यभिचार दोष नहीं होगा। इसी प्रकार "रजतमिदम्" इस स्थल पर इदमादि व्यावहारिकनिष्ठप्रतियोगितासम्बन्धेन तादात्म्य (व्यावहारिक इदं प्रतियोगिकतादात्म्य) की उत्पत्ति के प्रति स्वाश्रयतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से अज्ञान हेतु है। स्व = अज्ञान, उसका आश्रय = इदमवच्छिन्नचैतन्य, उसका अवच्छेदकत्व = इदम् में। यहां पर भी कार्यतावच्छेदक प्रतियोगितासम्बन्ध में "इदमादिव्यावहारिकनिष्ठ" विशेषण देने से प्रातीतिक रजत में पूर्वोक्त प्रकार से व्यभिचार दोष नहीं दिया जा सकता है॥ १९॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि "रजतमिदम्" इस भ्रमात्मक द्वितीय आकार की सिद्धि के लिए इदमादि तादात्म्य की उत्पत्ति मानना व्यर्थ है, क्योंकि इदन्त्वादि संसर्ग की उत्पत्ति से भी "रजतमिदम्" इस भ्रमात्मक आकार की सिद्धि हो जायेगी। अर्थात् रजत में इदन्त्व के संसर्ग की उत्पत्ति मानने पर भी जिसमें इदन्त्व कहता है, वह इदम् होगा और "रजतमिदम्" इस ज्ञान का आकार बन जायेगा। अतः सिद्धान्ती ने खण्ड संख्या १० में जो कहा था कि रजतावच्छेदेन इदं तादात्म्य और इदन्त्व का संसर्ग इन दोनों पदार्थों की उत्पत्ति होती है— ऐसा कथन व्यर्थ है, क्योंकि केवल इदन्त्व के संसर्ग की उत्पत्ति मानने से ही "रजतमिदम्" इस आकार की सिद्धि हो जा रही है। "इदं रजतम्" इस आकार की सिद्धि के लिए तो रजततादात्म्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि रजत की उत्पत्ति होती है। अतः इदम् में रजततादात्म्य की भी उत्पत्ति होगी किन्तु "रजतमिदम्" इस स्थल पर इदम् की उत्पत्ति होती नहीं है। अतः इदंतादात्म्य की भी उत्पत्ति मानना व्यर्थ है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "रजतमिदम्" इस प्रकार के भ्रमात्मक ज्ञान में रजतावच्छेदेन इदन्त्व के संसर्ग की उत्पत्ति होती है या इदंतादात्म्य की उत्पत्ति होती है— इसमें कोई विनिगमक (अन्यतर पक्षपाती प्रमाण) उपलब्ध नहीं है। इसलिए इदन्त्व और रजतत्वरूप दोनों धर्मों के संसर्गों (स्वरूप और समवाय) के समान इदम् और रजतरूप दोनों धर्मियों के प्रातीतिक दो तादात्म्य भी उत्पन्न होते हैं, क्योंकि दोनों धर्मों के स्वरूप और

लघुचन्द्रिका

जायेते। तयोरिव तयोरपि सप्रतियोगिकतया प्रतीयमानत्वात्, बाध्यत्वानुभावाच्च॥ २०॥

एतेन—‘इह रजतं न’ इति बाधस्य बाध्यं रजतमेव, नतु तत्प्रतियोगिकं तादात्म्यम् ; तथा च भ्रमपूर्वसिद्धं यदिदमादितादात्म्यम्, तस्यैव रजतादिविशेषणं प्रति संसर्गतया भानम्—इत्यपास्तम्; रजतादिप्रतियोगिकतादात्म्यत्वेन प्रतीतेर्बाध्यत्वानुभवस्य च रजताद्य—

सत्यानन्दप्रबोधिका

समवायरूप दो सम्बन्धों के जैसे ही इदम् और रजतरूप दोनों धर्मियों के दो तादात्म्य (इदंतादात्म्य और रजततादात्म्य) भी सप्रतियोगितया प्रतीत होते हैं। अर्थात् इदम् में रजतत्व का संसर्ग होने से संसर्ग के प्रतियोगित्वेन रजतत्व का भान होता है। वैसे ही इदम् में रजत का जहां तादात्म्य है, वहां उस तादात्म्य के प्रतियोगित्वेन रजत का भान होता है। इसी प्रकार ‘‘रजतमिदम्’’ इस स्थल पर भी रजत में इदन्त्व का संसर्ग होने से संसर्ग के प्रतियोगित्वेन इदन्त्व का भान होता है, वैसे ही रजत में इदम् का जहां तादात्म्य है, वहां उस तादात्म्य के प्रतियोगित्वेन इदम् का भान होता है। इस प्रकार से इदम् में रजतत्व का संसर्ग और रजत का तादात्म्य तथा रजत में इदन्त्व का संसर्ग, इदम् का तादात्म्य इनकी उत्पत्ति में यही हेतु है कि ये चारों ही उक्त ज्ञानद्वय के आकारों में भासते हैं और ये चारों प्रातीतिक हैं—ऐसा मानने में हेतु यह है कि इनका बाध होता है॥ २०॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि ‘‘इदं रजतं न’’ इस आकार के बाधक ज्ञान का बाध्य केवल रजत ही होता है न कि रजतप्रतियोगिकतादात्म्य। इसलिए भ्रम से पूर्व ‘‘इयं शुक्तिः’’ (पूरोवर्ति द्रव्य शुक्ति है— इस प्रकार से होने वाला व्यावहारिक ज्ञान) में जो इदंतादात्म्य (इदमनुयोगिकतादात्म्य= इदंविशेष्यकतादात्म्य) शुक्तिरूपविशेषण के प्रति संसर्गतया भास रहा था, वही व्यावहारिक इदमनुयोगिकतादात्म्य ‘‘इदं रजतम्’’ इस भ्रमस्थल पर रजत संसर्गतया भासता है। इस प्रकार से मानने से लाघव यह होगा कि भ्रमकाल में इदमनुयोगिकतादात्म्य की उत्पत्ति नहीं माननी पड़ेगी, क्योंकि वह व्यावहारिक होने के कारण भ्रम के पहले से ही सिद्ध है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती ने कहा—एतेन अपास्तम्। एतेन=पूर्वोक्त प्रकार से तादात्म्य की उत्पत्ति मानना आवश्यक होने से, अपास्तम्= पूर्वपक्षी का कथन खण्डित हो गया। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ‘‘इदं रजतम्’’ यह प्रतीति= ‘‘रजततादात्म्यविशिष्टमिदम्’’ इस प्रकार से एक विशिष्ट बुद्धि है। इसमें विशेष्य=इदम् और विशेषण =रजत है। जबकि अन्यथाख्याति वालों को भी यह नियम मान्य है कि विशिष्टबुद्धि स्थल पर विशेषण में संसर्गप्रतियोगित्व और विशेष्य में संसर्गानुयोगित्व भासता है। अपने इस सिद्धान्त को अन्यथाख्याति वाले अपलाप तो नहीं कर सकते हैं। अतः ‘‘इदं रजतम्’’ इस ज्ञान में जो तादात्म्य भासता है, वह रजतप्रतियोगिकतादात्म्येन ही भासता है। भ्रमस्थल पर जो प्रतीति होती है, उसमें और ‘‘इदं रजतं न’’ इस प्रकार बाधकज्ञान में रजतप्रतियोगिकतादात्म्यत्वेन तादात्म्य में, बाध्यत्व का अनुभव होता है। अतः ‘‘इदं रजतम्’’ इस प्रतीति और ‘‘इदं रजतं न’’ इस बाध्यत्वानुभव का निर्वाह उस तादात्म्य से नहीं हो सकता है जो रजतप्रतियोगिक न हो। अर्थात् उक्त प्रतीति और उक्त बाध्यत्वानुभव का निर्वाह व्यावहारिक इदमनुयोगिक तादात्म्य (जो भ्रम से पहले ही सिद्ध है) के द्वारा नहीं हो सकता है। अतः भ्रम में अनिवर्चनीय रजतप्रतियोगिकतादात्म्य की उत्पत्ति होती है और बाधकज्ञान से उसका बाध होता है—ऐसा मानना सर्वथा ही उचित है। विशिष्ट बुद्धि के विशेषण में संसर्गप्रतियोगित्व और विशेष्य में संसर्गानुयोगित्व प्रतीत नहीं होता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान दो प्रकार का

लघुचन्द्रिका

प्रतियोगिकतादात्म्येनानिर्वाहात् । नहि विशेषणविशेष्ययोः संसर्गप्रतियोगित्वानुयोगित्वे न भासेते इति वक्तुं शक्यते ; घट-भूतलादिनिष्ठयोर्वृत्तिज्ञानीयविशेषणताविशेष्यतयोर्भासमानवैशिष्ट्यीय-भासमानप्रतियोगित्वानुयोगित्वस्वरूपत्वात्, अवच्छेदकावच्छेद्यभावापन्नचिच्चेत्यतादात्म्य-रूपयोर्विशेष्यताविशेषणतयोश्चिद्वद्रूपज्ञान एव स्वीकारेण, वृत्तौ स्वीकर्तुमशक्तत्वात् ॥ २१ ॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

होता है—चैतन्यरूप मुख्यज्ञान और वृत्तिरूपगौण ज्ञान । दोनों ज्ञानों की विषयता भी दो प्रकार की होती है—विशेष्यता और विशेषणता । मुख्यज्ञानीयविषयता=चिच्चेत्यतादात्म्य=मुख्यज्ञान के साथ चेत्य=विषय का तादात्म्य । एक ज्ञान में भासने वाली सभी विषयों के साथ चिच्चेत्यतादात्म्य रहेगा, परन्तु कौन चिच्चेत्यतादात्म्य विशेष्यता और कौन चिच्चेत्यतादात्म्य विशेषणता है—इसलिए नियम है कि अवच्छेदक भावापन्न जो कि चिच्चेत्यतादात्म्य है, उसमें विशेष्यता और अवच्छेद्यभावापन्न जो कि चिच्चेत्यतादात्म्य है, उसमें विशेषणता । जैसे “इदं रजतम्” इस आकार में इदंविषयतावच्छिन्न रजतविषयता भासती है । ये दोनों विषयता (इदंविषयता और रजतविषयता) यदि मुख्यज्ञानीय विषयता है तो उन दोनों विषयताओं में से कौन विशेष्यता और कौन विशेषणता रूप विषयता है । उसका समाधान यह है कि अवच्छेदक विशेष्यता और अवच्छेद्य विशेषणतारूप विषयता होगी । प्रकृत में इदं विषयता जब अवच्छेदक है तब इदंविषयता (चिच्चेत्यतादात्म्य) = विशेष्यता है और रजतविषयता अवच्छेद्य होने के कारण विशेषणता है । परन्तु वृत्तिज्ञानीय विषयता को तो चिच्चेत्यतादात्म्यरूप माना नहीं जा सकता है क्योंकि जहां अधिष्ठान में विषय अध्यस्त होता है, वहां पर ही चिच्चेत्य का तादात्म्य माना जाता है । वृत्तिज्ञान को विषय का अधिष्ठान माना नहीं जाता है । इसलिए वृत्तिज्ञानीयविषयता को चिच्चेत्यतादात्म्यरूप माना नहीं जा सकता है । अपितु ‘घटवद् भूतलम्’ इस प्रकार के वृत्तिज्ञान की जो घट में विशेषणता और भूतल में विशेष्यता है, वह “भासमानवैशिष्ट्यानुयोगित्वम् = वृत्तिज्ञानीयविशेष्यत्वम्” और “भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वम् = वृत्तिज्ञानीयविशेषणत्वम्” इस नियम के अनुसार ही मानना पड़ता है । इस नियम को न मानकर वृत्तिज्ञानीयविशेष्यता और वृत्तिज्ञानीय विशेषणता का व्याख्यान नहीं किया जा सकता है । दो बार भासमान न कहकर केवल इतना ही कहा जाता—“भासमानवैशिष्ट्यीयप्रतियोगित्वा-नुयोगित्वस्वरूपत्वात् ।” तब इसका अर्थ होता कि भासमान वैशिष्ट्य का जो प्रतियोगी होता है, वह विशेषण होता है और भासमानवैशिष्ट्य का जो अनुयोगी होता है, वह विशेष्य होता है किन्तु तब तो “घटभूतलसंसर्गाः” इस प्रकार से जहां समूहालम्बनात्मक ज्ञान होता है, वहां संसर्ग माने वैशिष्ट्य और वह वैशिष्ट्य उक्त समूहालम्बनज्ञान में भासता भी है, और उस वैशिष्ट्य का प्रतियोगित्व घट में और अनुयोगित्व भूतल में भासता न भी हो किन्तु तादृशप्रतियोगित्वानुयोगित्व घट और भूतल में वस्तुतस्तु विद्यमान ही है । अतः घट और भूतल में उक्त विशेषणता और विशेष्यता का लक्षण चले जाने से घट और भूतल में विशेषणता और विशेष्यता भी मानना पड़ता । इसलिए प्रतियोगित्वानुयोगित्व के विशेषण के रूप से एक बार पुनः भासमान पद दिया गया । उक्त समूहालम्बन ज्ञान में वैशिष्ट्यभासमान होने पर भी प्रतियोगित्वानुयोगित्व भासमान न होने के कारण घट और भूतल में विशेषणता और विशेष्यता नहीं मानी जायेगी, जबकि “घटवद् भूतलम्” इस स्थल पर वैशिष्ट्य के भासमान होने के साथ ही प्रतियोगित्वानुयोगित्व भासमान होने के कारण घट में विशेषणता और भूतल में विशेष्यता मानी ही जा सकती है ॥ २१ ॥

लघुचन्द्रिका

ननु—तथापि रजतादेरुपनयसन्निकर्षेण प्रत्यक्षे विषयीभवतो विशेषणत्वमेव, नतु विशेष्यत्वम्; 'उपनीतं विशेषणतयैव भाति' इति नियमादिति—चेत्, न ; उपनयस्य सिद्धान्ते प्रत्यक्षविषयत्वानियामकत्वादुक्तनियमस्याभावात्, परमते तद्भावेऽप्यलौकिकविशेषणतायामेव तस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि वृत्तिज्ञान से सम्बन्धित विशेषणता और विशेष्यता ये दोनों ही भासमान वैशिष्ट्य में भासमान प्रतियोगित्व और अनुयोगित्वस्वरूप होते हैं—ऐसा स्वीकार कर लेने पर भी 'रजतमिदम्' यह भ्रमात्मक आकार सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि 'रजतमिदम्' इस आकार में सिद्धान्ती ने जो कहा कि रजत का विशेष्यतया भान होता है—वह सम्भव नहीं हो सकता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि 'इदं रजतम्' इस स्थल पर रजत के साथ लौकिकसन्निकर्ष सिद्धान्ती भी नहीं मानते हैं। अतः बाध्य होकर अलौकिकसन्निकर्ष (ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष) से ही रजत का प्रत्यक्ष मानना होगा। ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष के विषयीभूत रजतादि में विशेषणत्व ही होता है विशेष्यत्व नहीं, क्योंकि 'ज्ञानलक्षणा से उपनीत पदार्थ विशेषणरूप से ही प्रतीत होता है' ऐसा ही नियम है। इसलिए रजतविशेषणक 'इदं रजतम्' यह आकार ही युक्ति सङ्गत है। सिद्धान्ती के द्वारा उक्त रजतविशेष्यक 'रजतमिदम्' यह आकार युक्ति सङ्गत नहीं है। इसलिए दो तादात्म्यों की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सिद्धान्त मत में प्रत्यक्षता का नियामक ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष नहीं माना जाता है। अन्यथा अनुमानमात्र के उच्छेद की आपत्ति होगी। (और रजत का ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष भी नहीं माना जाता है।) अतः 'उपनीतं विशेषणतयैव भाति' यह नियम सिद्धान्ती के ऊपर क्रियान्वित नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि नैयायिक मत में उपनयसन्निकर्ष अभ्युपगत होने पर भी उसे अलौकिक विशेषणता का ही नियामक माना जाता है। अर्थात् जो विषय उपनयसन्निकर्ष से प्रतीत होता है, वह विशेषणतया ही ज्ञान में भासेगा। वह कभी अलौकिक प्रत्यक्ष के अन्य आकारों में विशेष्यतया नहीं भास सकता है, किन्तु लौकिक प्रत्यक्ष के एक आकार में जो विशेषणतया भास रहा है, उसके लिए उक्त नियम लागू नहीं होता है कि उस ज्ञान के अन्य आकारों में भी विशेष्यतया नहीं भासेगा, क्योंकि लौकिक प्रत्यक्ष का विषय एक आकार में विशेषणतया और अन्य आकार में विशेष्यतया भी भास सकता है। 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में जो रजत भासता है, वह लौकिक प्रत्यक्षविषयतया भासता है। अतः वह कभी विशेषणतया और कभी विशेष्यतया भास सकता है। रजत लौकिक प्रत्यक्ष का विषय इसलिए है कि उस प्रत्यक्ष के पश्चात् जो अनुभव (अनुव्यवसाय) होता है। वह 'रजतं साक्षात्करोमि' इस प्रकार से होता है। जहां विषय अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा भासता है। वहां 'तद्विषयं जानामि' इस प्रकार से अनुव्यवसाय होता है। जैसे दूर से चन्दन खण्ड देखने से तन्निष्ठ सुरभित्व का जो अलौकिकसन्निकर्ष से बोध होता है, वहां 'चन्दनं साक्षात्करोमि सुरभिं जानामि' इस प्रकार से अनुव्यवसाय होता है। लौकिक प्रत्यक्ष का विषय कभी विशेषणतया और कभी विशेष्यतया भासित होता है—इसका नियामक क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जहां बाध अथवा विशेष का ज्ञान अर्थात् 'नेदं रजतम्' इस प्रकार बाध ज्ञान या 'इयं शुक्तिः' इस प्रकार

लघुचन्द्रिका

नियामकत्वात्, लौकिक्याश्च विशेषणतायामिव विशेष्यतायामपि दोषाणामेव बाधविशेषा-
भावादिसहकृतानां नियामकत्वात्॥ २२॥

ननु—रजतस्याध्यासे स्वीकृते तत्तादात्म्यस्याप्यध्यास आवश्यकः, स एव कुतः?
रजतत्वादिधर्मस्यैव संसर्ग आरोप्यते; तावतैव प्रतीतिबाधयोरुपपत्तेः किमिति रजततत्तादात्म्ययोर-
ध्यास उच्यते? इति—चेत्, न; रजतस्योत्पत्तिं विना 'रजतत्वमत्र साक्षात्करोमि' इति
प्रत्ययानिर्वाहात्, देशान्तरस्थरजते मनोऽवच्छिन्नचित्तादात्म्याभावेन तद्वतरजतत्वादावपि
तदभावात्॥ २३॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

शुक्तित्वविशेष का ज्ञान नहीं है, वहां दोष (चाकचिक्यादिदोष) ही रजत में एक बार विशेष्यता
(रजतमिदम्—इस स्थल पर) उपस्थापित करता है और दूसरी बार रजत में विशेषणता (इदं
रजतम्—इस स्थल पर) उपस्थापित करता है। अर्थात् "इदं रजतम्" इस स्थल पर जिस प्रकार
लौकिकविशेषणता में बाधविशेषाभावादि से सहकृत दोष को ही नियामक माना जाता है ठीक वैसे
ही "रजतमिदम्" इस स्थल पर लौकिकविशेष्यता में बाधविशेषाभावादि से सहकृत दोष को ही
नियामक माना जाता है॥ २२॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि रजत को प्रातीतिक मानने से तन्निष्ठतादात्म्य को भी प्रातीतिक
मानना पड़ेगा। अतः रजत की अनिवर्चनीय उत्पत्ति मानने से तन्निष्ठ तादात्म्य की भी अनिवर्चनीय
उत्पत्ति मानना पड़ेगा। अतः रजत और रजततादात्म्य की उत्पत्ति न मानकर इदम् में केवल
रजतत्व धर्म के संसर्ग की ही उत्पत्ति मानी जाय। ऐसा मानने से लाघव होगा और इदम् में
रजतत्व के संसर्ग की उत्पत्ति मानने से "इदं रजतम्" इस प्रतीति का भी निर्वाह हो जायेगा,
क्योंकि जिसमें रजतत्व का संसर्ग भासेगा, वह रजत ही समझा जायेगा तथा "नेदं रजतम्" इस
बाध का भी निर्वाह हो जायेगा, क्योंकि रजतत्व के संसर्ग का बाध हो जाने से पुरोवर्ती में
रजतभ्रम भी समाप्त हो जायेगा। अतः रजत और रजततादात्म्य की उत्पत्ति मानना व्यर्थ है।
इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि भ्रमस्थल (शुक्ति) में जब तक रजतोत्पत्ति
नहीं मानी जाती है, तब तक "रजतत्वमत्र साक्षात्करोमि" ऐसी अनुभूति (अनुव्यवसाय) का
निर्वाह नहीं हो सकता है। अर्थात् रजतत्व यदि व्यावहारिक रजतनिष्ठ होता तब तो उसका
साक्षात्कार यहां पर नहीं हो सकता है, क्योंकि व्यावहारिक रजत के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष
ही नहीं है। सिद्धान्तमत में अलौकिकसन्निकर्ष माना नहीं जाता है। अतः प्रातीतिक रजत की
उत्पत्ति मानने पर उसमें रजतत्व रह सकता है और उसका साक्षी प्रत्यक्ष भी हो सकता है। हट्टस्थ
व्यावहारिक रजत का भ्रमदेश में साक्षात्कार क्यों नहीं हो सकता है? इसको स्पष्ट करते हुए कह
रहे हैं कि मनोऽवच्छिन्नचैतन्य (प्रमाता) का तादात्म्य (अभिन्नत्व) ही विषयगत प्रत्यक्षत्व का
प्रयोजक है। वह तो लौकिकइन्द्रियसन्निकर्ष स्थल पर ही सम्भव है। देशान्तरस्थ (हट्टस्थ) रजत
के साथ लौकिक इन्द्रियसन्निकर्ष तो नहीं है। अतः हट्टस्थ रजत के साथ अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य
का तादात्म्य न हो पाने के कारण हट्टस्थ रजतगत रजतत्व के साथ भी अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य
का तादात्म्य नहीं हो सकता है। इसलिए हट्टस्थ व्यावहारिक रजत तथा रजतगत रजतत्व का
साक्षात्कार भ्रमदेश (शुक्ति) में नहीं हो सकता है॥ २३॥

लघुचन्द्रिका

नच— रजतत्वादेरेवोत्पत्तिरस्तु ननु तद्वत् इति—वाच्यम् ; 'अनेकधर्माणामुत्पत्तिकल्पना—मपेक्ष्यैकस्य धर्मिण एवोत्पत्तिकल्पनाया लघुत्वात्, अखण्डरजतत्वादेरुत्पत्तौ तस्य पूर्वमननुभूतत्वेन पूर्वानुभूतरजतत्वादिप्रकारकप्रवृत्त्यादिकार्यस्य भ्रमस्थलेऽनुपपत्तेः। तस्मादिदमादितादात्म्यस्य रजताद्यवच्छेदेनावश्यमुत्पत्तिः प्रातीतिकभ्रमस्थले वाच्याः॥ २४॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाति मानने वाले नैयायिकादि के मत में जैसे व्यावहारिक घट और भ्रमस्थलीय घट में एक ही घटत्वजाति रहती है और वह घटत्व जाति नित्य होने से उसकी उत्पत्ति मानी नहीं जाती है। ठीक इसी प्रकार व्यावहारिक रजत और भ्रमस्थलीय रजत में रहने वाली एक ही रजतत्व जाति मानी जाती है और उसकी उत्पत्ति भी नहीं मानी जाती है। इसलिए इस शङ्का में जो रजतत्व की उत्पत्ति का कथन है। वहां पर इदम् के साथ रजतत्व के संसर्ग की उत्पत्ति का कथन समझना चाहिए। रजतत्वादि में आदि पद से अलङ्कारत्वादि धर्म का ग्रहण कर लेना चाहिए। किन्तु जिस मत में जाति नहीं मानी जाती है, उस मत में रजतत्व की उत्पत्ति मानी ही जा सकती है। पूर्वपक्षी का कथन है कि शुक्ति में प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति मानकर तब उसमें रजतत्व और रजतत्व के संसर्ग की उत्पत्ति मानने की अपेक्षा पुरोवर्ती वस्तु में रजतत्व और रजतत्व के संसर्ग की ही उत्पत्ति मान लिया जाय। रजत तथा रजतत्व और रजतत्व के संसर्ग की उत्पत्ति की अपेक्षा रजतत्व और रजतत्व के संसर्ग की उत्पत्ति मानने में लाघव है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि रजत में प्रतीयमान अनेक धर्मों की उत्पत्ति की कल्पना की अपेक्षा एक धर्मी (रजत) की कल्पना करने में लाघव है। अर्थात् जहां पर शुक्ति को देखकर यह एक अलङ्कार है, अथवा यह पूर्वदृष्ट है—ऐसा भ्रम होगा तो वहां अलङ्कारत्व, पूर्वदृष्टत्व इत्यादि अनेक धर्मों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी और रजत की उत्पत्ति मानने पर अन्यत्र स्थित अलङ्कारत्वादि धर्मों के संसर्ग का आरोप मात्र मानने से ही काम चल जायेगा। उन धर्मों की उत्पत्ति मानने की आवश्यकता नहीं होगी। दूसरी बात यह है कि नैयायिकमतानुसार देशान्तरस्थरजतनिष्ठ रजतत्वादि की उत्पत्ति अन्यत्र असम्भव है। अर्थात् यदि प्रातिभासिक स्थल पर शुक्ति में रजतत्व की उत्पत्ति मानते हैं तो उस रजतत्व को व्यावहारिक रजत में रहने वाले रजतत्व से भिन्न ही मानना पड़ेगा, क्योंकि व्यावहारिक रजत में जो रजतत्व रहता है वह तो अन्यत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिए इस रजतत्व को उत्पत्तिविनाशशील धर्म वाला ही मानना पड़ेगा। ऐसे रजतत्व को ही लघुचन्द्रिकाकार ने अखण्ड रजतत्व शब्द से कहा है। अखण्ड रजतत्वादि की उत्पत्ति मानने पर उस अखण्ड रजतत्वादि का पूर्वकाल में अनुभव न होने के कारण पूर्वानुभूतरजतत्वविशिष्टरजत यह है—ऐसा समझकर प्रवृत्तिरूप कार्य भ्रमस्थल पर नहीं हो पायेगा अतः भ्रमस्थलीय प्रवृत्ति के लिए तादृश ज्ञान हेतु न हो पाने के कारण हेत्वन्तर की अन्वेषणा करनी पड़ेगी। जिससे की अतिगौरव होगा। इसलिए प्रातिभासिक और व्यावहारिक दोनों रजतों में एक ही प्रकार का रजतत्व माना जाता है। एक ही प्रकार का रजतत्व होने से वह रजतत्व पूर्व अनुभूत होता है। अतः पूर्वानुभूत रजतत्व विशिष्ट रजत यह है—ऐसा समझ कर के भ्रम स्थल पर प्रवृत्ति हो जाती है। अब दृष्टान्त का उपसंहार करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि रजताद्यवच्छेदेन रजताद्यवच्छिन्नचित् में इदमादि तादात्म्य की उत्पत्ति प्रातीतिक भ्रम स्थल पर गले पादुका न्यायेन अवश्य माननी होगी॥ २४॥

लघुचन्द्रिका

तथाच तद्वदेव व्यावहारिकघटादिभ्रमस्थलेऽपि 'सन्तं घटं जानामि' 'घटं सन्तं जानामि' इत्याकारद्वयानुभवात् तादृशभ्रमस्य विषयविशिष्टस्य बाधकप्रत्ययेन श्रुत्यनुमानादिना च मिथ्यात्वप्रत्ययाच्च, सदवच्छेदेन घटादिकं तत्तादात्म्यं घटत्वादिसंसर्गश्च, घटाद्यवच्छेदेन सत्तादात्म्यं सत्त्वादिधर्मसंसर्गश्च जायते; केवलस्य सतोऽधिकरणत्वेऽपि तादात्म्यप्रतियोगित्वोपहितरूपेण तस्य तत्सम्बद्धत्वेनावच्छेदकत्वम्॥२५॥

नच—एकस्यैवानादेः सत्तादात्म्यस्याविद्यायामिव घटादावपि सम्भवाद् घटाद्यवच्छेदेनानन्त—सत्तादात्म्यानामुत्पत्तौ न मानमिति—वाच्यम्; सत्तादात्म्यं हि चिद्रूपज्ञानस्य विषयतारूपतादात्म्यम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वोक्त दृष्टान्त के समान ही दार्ष्टान्त व्यावहारिक घटादि के भ्रम स्थल पर 'सन्तं घटं जानामि' इस अनुव्यवसाय के द्वारा 'सन् घटः' इस व्यवसाय में रहने वाली सद्विषयतावच्छिन्न घटतादात्म्यविषयता भासने से व्यवसाय में तादृशविषयता रहती है—यह सिद्ध हो जाता है। इसके सिद्ध हो जाने पर सदवच्छेदेन घट, घटतादात्म्य और सन्निष्ठ घटत्वसंसर्ग (तादात्म्य) उत्पन्न होते हैं—यह भी सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'घटं सन्तं जानामि' इस अनुव्यवसाय के द्वारा 'घटः सन्' इस व्यवसाय में रहने वाली घटविषयतावच्छिन्न सत्तादात्म्यविषयता भासने से व्यवसाय में तादृशविषयता रहती है—यह सिद्ध हो जाता है। इसके सिद्ध हो जाने पर घटावच्छेदेन सत्तादात्म्य और सत्त्वादिधर्म का संसर्ग उत्पन्न होते हैं—यह भी सिद्ध हो जाता है एवं विषयविशिष्ट उक्त भ्रम में 'सन् घटः' 'घटः सन्' ऐसा जो ज्ञान है वह मिथ्या है—इत्याकारेण बाधक प्रत्यय के द्वारा और 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि अद्वैत बोधक श्रुतियों के द्वारा तथा मिथ्यात्वानुमान के द्वारा मिथ्यात्व की प्रतीति होती है। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि जो अवच्छेदक होता है वह अधिकरण से सम्बद्ध होता है। जैसे मूल कपिसंयोगावच्छिन्नवृक्ष का अवच्छेदक है और वह मूल वृक्ष से सम्बद्ध है किन्तु 'सन्तं घटं जानामि' इस स्थल पर सदवच्छेदेन घटावच्छिन्न सत् में घट उत्पन्न होता है। यहां अवच्छेदक सत् और अधिकरण सत् और अवच्छेद्य घट है। यहां घटादि अवच्छेद्य का अधिकरण जो सत् है, उससे सम्बद्ध सत् है अथवा उसमें सत् रहता है—ऐसा माना नहीं जा सकता है। क्योंकि ब्रह्म तो असङ्ग होता है। इसके समाधान में कह रहे हैं कि जो अवच्छेदक सत् है वह तादात्म्यप्रतियोगित्वोपहित सत् है और अवच्छेद्य घटादि का अधिकरणीभूत जो सत् है। वह निरूपाधिक शुद्ध सत् है इस दृष्टि से सदवच्छेदेन घटावच्छिन्नसत् में घट उत्पन्न होता है—ऐसा कहा गया है। शुद्धसत् में शुद्धसत् का रहना सम्भव न होने पर भी उपहितसत् शुद्धसत् से भिन्न होने के कारण शुद्धसत् में रह ही सकता है, क्योंकि उपहित सत् मिथ्या है। मिथ्या पदार्थ के अधिष्ठान में रहने से कोई दोष होता नहीं है॥ २५॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि अविद्या अनादि है और वह अविद्या शुद्धचित् में अध्यस्त भी है। अतः अविद्या में सत्तादात्म्य अनादि काल से भासता है। वहीं घट में भासता है। यह मानने से ही काम चल जायेगा। घट में सत्तादात्म्य उत्पन्न होता है—यह मानना व्यर्थ है। दूसरी बात यह है कि सत्तादात्म्य की उत्पत्ति मानने से वह सत्तादात्म्य सादि होगा और उस घटावच्छिन्नसत्तादात्म्य से घटावच्छिन्नसत्तादात्म्य भिन्न होगा। इसी प्रकार घटावच्छिन्नसत्तादात्म्यादि भी भिन्न होंगे। अर्थात् जब तक घटज्ञान रहेगा तब तक घटावच्छिन्नसत्तादात्म्य रहेगा। मठज्ञान होने के साथ ही

लघुचन्द्रिका

तथा च कपालादिनिष्ठविषयतारूपसत्तादात्म्येनावच्छिन्नस्य घटादिनिष्ठविषयतारूपस्य सत्तादात्म्यस्य तन्त्वादिनिष्ठविषयतारूपसत्तादात्म्यावच्छिन्नेन पटादिनिष्ठविषयतारूपेण सत्तादात्म्येनाभेदा—सम्भवादवच्छेदकभेदेन सत्तादात्म्यानां भेदस्यावश्यकत्वेनानन्त्यं प्रामाणिकम्। नहि तार्किकादि—भिरपि तत्तद्विषयतावच्छिन्नविषयतानामैक्यमुच्यते। तेषां च संयोगादिवदेवोक्तरीत्या जन्यत्वमपि। तस्मादाकारद्वयानुभवाद् भ्रमविषयत्वहेतुना मिथ्यात्वानुमितेः, 'सत्तादात्म्यमिदमादितादात्म्यञ्च यदि

सत्यानन्दप्रबोधिका

घटावच्छिन्नसत्तादात्म्यं नष्ट हो जायेगा और मठावच्छिन्नसत्तादात्म्य उत्पन्न होगा। पुनः घट ज्ञान होने पर मठावच्छिन्नसत्तादात्म्यं नष्ट होकर दूसरा घटावच्छिन्नसत्तादात्म्य उत्पन्न होगा। इस प्रकार अनन्त सत्तादात्म्य मानना पड़ेगा। जिससे गौरव दोष होगा। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जहां घटज्ञान होता है वहां घट में जो ज्ञानीय विषयता है, वही सत्तादात्म्य है। 'घटवत् कपालम्' अथवा 'कपाले घटः समवेतः' इस ज्ञान का विषय कपाल भी है घट भी है। कपालनिष्ठ विषयता भी सत्तादात्म्य रूप है और घटनिष्ठ विषयता भी सत्तादात्म्य रूप है किन्तु कपालनिष्ठ विषयता अवच्छेदक है और घटनिष्ठ विषयता अवच्छेद्य है, क्योंकि विशेष्य अवच्छेदक होता है और विशेषण अवच्छेद्य होता है यह पीछे कहा जा चुका है। अब दोनों विषयतारूप सत्तादात्म्यों को एक मान लेने पर अवच्छेद्यावच्छेदकभाव ही नहीं बनेगा। इसी प्रकार घटनिष्ठ विषयता कपालनिष्ठ विषयता से अवच्छिन्न है, तन्तुनिष्ठ विषयता से अवच्छिन्न नहीं है, क्योंकि पटविषयता ही तन्तुनिष्ठ विषयता से अवच्छिन्न है। इसलिए घटविषयतारूप सत्तादात्म्य पटविषयता रूप सत्तादात्म्य नहीं हो सकता है। घटविषयता रूप सत्तादात्म्य को पटविषयता रूप सत्तादात्म्य से अभिन्न मान लेने पर घटविषयता भी तन्तुविषयता से अवच्छिन्न हो जायेगी। तब 'घटवत् कपालम्' के जैसे 'घटवत् तन्तुः' ऐसी प्रतीति होने की आपत्ति होगी। इसलिए सत्तादात्म्य वस्तुतः एक होने पर भी अवच्छेदक रूप उपाधि के भेद से सत्तादात्म्यों का भेद आवश्यक होने के कारण सत्तादात्म्यों का अनन्तत्व प्रामाणिक ही है। नैयायिकमत में भी कपालनिष्ठविषयतावच्छिन्न घटनिष्ठविषयता और तन्तुनिष्ठविषयतावच्छिन्न पटनिष्ठविषयता को अभिन्न नहीं मानते हैं, क्योंकि अभिन्न मानने पर तन्तु में घट की प्रतीति और कपाल में पट की प्रतीति की आपत्ति होगी। कहने का आशय यह है कि नैयायिक जिसको विषयता कहता है, हम उसको सत्तादात्म्य कहते हैं। नैयायिक जब विषयता को अनन्त मानता है, तब सिद्धान्तमत में सत्तादात्म्य को अनन्त मानने में क्या आपत्ति है? जैसे पूर्वकाल में भूतल में घटसंयोग नहीं था, वर्तमान काल में भूतल में घटसंयोग है; इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती, यदि संयोग अनादि होता। अतः संयोग को सादि माना जाता है और अवच्छेदक भेद से तत्तद् स्थल पर नाना संयोग उत्पन्न होते हैं—ऐसा माना जाता है। अर्थात् 'अवच्छेदकतासम्बन्धेन संयोगोत्पत्तिं प्रति तादात्म्येन मूलं कारणम्' इस प्रकार कार्यकारण मानना अवश्यम्भावी होने से जैसे संयोग जन्य है ठीक उसी प्रकार विषयतारूप सत्तादात्म्य भी जन्य है, क्योंकि प्रतियोगिता सम्बन्ध से इदं प्रतियोगिक प्रातीतिक तादात्म्य की उत्पत्ति में स्वाश्रयतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से स्वपरिणामाव्यवहित पूर्वत्वविशिष्ट अज्ञान हेतु है। फलतः दोनों आकारों का अनुभव होने के कारण दोनों तादात्म्यों को मानना आवश्यक है। इन दोनों तादात्म्यों में मिथ्यात्व की सिद्धि भ्रमविषयत्व हेतु के द्वारा होती है। अनुमान का आकार होगा—सत्तादात्म्यं मिथ्या, भ्रमविषयत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्। यद्यपि भ्रमविषयत्व

लघुचन्द्रिका

मिथ्या न स्यात्, तदा भ्रमविषयो न स्यात्; विषयविशिष्टभ्रमस्य मिथ्यात्वप्रत्ययात्' इति तर्कादिदमादितादात्म्यमिव सत्तादात्म्यमपि मिथ्या॥ २६॥

तदिदं सर्वं शारीरक—संक्षेपशारीरक—पञ्चपादिकादिमूलकम्। उक्तं हि शारीरके 'अन्योन्यस्मि—नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्माध्यास्याहमिदं ममेदमिति व्यवहारः' इति। अन्योन्यस्मिन्—परस्परवच्छेदेन॥ २७॥

उक्तञ्च संक्षेपशारीरके—

'इदमर्थवस्त्वपि भवेद्रजते परिकल्पितं रजतवस्त्वदमि।

रजतभ्रमेऽस्य च परिस्फुरणान्न यदि स्फुरेन्न खलु शुक्तिरिव॥ सं०शा०१—३४

सत्यानन्दप्रबोधिका

सत् में भी है किन्तु उसमें मिथ्यात्व नहीं है, तथापि शुद्धसत् में भ्रमविषयत्व नहीं है किन्तु उपहितसत् में भ्रमविषयत्व है और उसमें मिथ्यात्व भी है। अतः व्यभिचारदोष नहीं होगा। सत्तादात्म्य के मिथ्यात्व में अनुकूलतर्क दे रहे हैं— सत्तादात्म्य और इदमादि तादात्म्य यदि मिथ्या नहीं होता तब तो भ्रम का विषय भी नहीं होता, किन्तु भ्रम का विषय होता है। इसलिए विषयविशिष्ट भ्रम में मिथ्यात्व का ज्ञान होता है। अर्थात् बाधक प्रत्यय के द्वारा जो भ्रम ज्ञान के मिथ्यात्व का बोधन होता है, वह स्वरूपेण भ्रमज्ञान में मिथ्यात्व का बोधन नहीं होता है अपितु विषयविशिष्टत्वेन। अतः इस तर्क से भ्रम के जितने विषय हैं, सभी मिथ्या होने के कारण इदमादितादात्म्य के जैसे ही सत्तादात्म्य भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है॥ २६॥

अब आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पीछे जो कहा गया है वह हमारी नवीन कल्पना है, ऐसी बात नहीं है। किन्तु पूर्वोक्त सभी युक्तियाँ हमारे पूर्वाचार्यों ने शारीरकभाष्य, संक्षेपशारीरक और पञ्चपादिका में कहा है। उन्हीं युक्तियों के आधार पर ही पूर्वोक्त सम्पूर्ण कथन है। जैसे भगवान् भाष्यकार ने शारीरकभाष्य में कहा है—अन्योन्यस्मिनन्योन्यात्मकतामध्यस्याहमिदं ममेदमिति व्यवहारः (ब्र.सू. १-१-१) यहां भाष्य में केवल आत्मा में अनात्मा का अध्यास होता है। यह नहीं कहा गया है किन्तु अनात्मा में भी आत्मा का अध्यास कहा है। इसलिए अनात्मा में आत्मा के तादात्म्य का अध्यास कहा ही गया। अतः घटतादात्म्य के जैसे सत्तादात्म्य भी मिथ्या है—यह भी कहा ही गया है॥ २७॥

संक्षेपशारीरक में आचार्यप्रवर सर्वज्ञात्ममुनि ने भी कहा है—

इदमर्थवस्त्वपि भवेद्रजते परिकल्पितं रजतवस्त्वदमि।

रजतभ्रमेऽस्य च परिस्फुरणान्न यदि स्फुरेन्न खलु शुक्तिरिव॥ (सं०शा० १-३४)

अन्वय — इदमर्थवस्तु अपि रजते परिकल्पितं भवेत्, रजतवस्तु इदमि। अस्य च रजतभ्रमे परिस्फुरणात्। यदि न (अध्यस्तं स्यात् तर्हि) शुक्तिरिव न खलु स्फुरेत्।

सर्वप्रथम आचार्यप्रवर दृष्टान्त "इदं रजतम्" और "रजतमिदम्" में परस्परव्यास को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैसे "इदं रजतम्" इस भ्रमस्थल पर इदमवच्छेदेन इदमवच्छिन्नचित् में रजत और रजततादात्म्य को कल्पित माना जाता है ठीक वैसे ही "रजतमिदम्" इस भ्रमस्थल पर भी रजतावच्छेदेन रजतावच्छिन्नचित् में इदंतादात्म्य को भी कल्पित माना जाता है। क्योंकि इदं पदार्थ रजतभ्रम में परिस्फुरित होता है। (यहां पर विशेष बात यह है कि अन्योन्याध्यास स्थल पर इदमर्थ में रजत का स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास दोनों ही होता है,

लघुचन्द्रिका

इतरेतराध्यसनमेव ततश्चित्तिचेत्ययोरपि भवेदुचितम्।

रजतभ्रमादिषु तथावगमात्र हि कल्पना गुरुतरा घटते॥ (सं. शा. १-३७)

अनुभूति—युक्त्यनुमितित्रितयादितरेतराध्यसनमेव ततः।

चिति—चेत्यवस्तुयुगलस्य, न चेत् त्रितयस्य बाधनमिहापतति॥ (सं. शा. १-३८) इति॥ २८॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

किन्तु रजत में इदमर्थ का संसर्गाध्यास ही होता है, स्वरूपाध्यास नहीं। इसी कारण से 'नेदं रजतम्' इस बाधज्ञान के द्वारा इदम् के संसर्ग का ही बाध होता है, इदमर्थ का नहीं। यहां पर अनुमान का आकार होगा—'इदं पदार्थो रजतपदार्थेऽध्यस्तः, रजतभ्रमे परिस्फुरितत्वात्। इसमें अन्वय दृष्टान्त का आकार होगा—रजतवत्। व्यतिरेक दृष्टान्त का आकार होगा—यत्रैवं तत्रैवं यथा शुक्तिः। इस अनुमान के लिए अनुकूल तर्क देते हुए कह रहे हैं कि "यदीदमर्थवस्तु रजते परिकल्पितं न भवेत्तर्हि शुक्तिविशेषांशवद्रजतभ्रमे तत्रैव स्फुरेत्।" अर्थात् यदि इदम् पदार्थ अध्यस्त न होता, तब रजतभ्रम में उसका स्फुरण नहीं होता, जैसे शुक्तित्वविशिष्टशुक्ति का स्फुरण नहीं होता है। अगले श्लोक के द्वारा दार्ष्टान्त में आत्मानात्माध्यास को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि—

इतरेतराध्यसनमेव ततश्चित्तिचेत्ययोरपि भवेदुचितम्।

रजतभ्रमादिषु तथावगमात्र हि कल्पना गुरुतरा घटते॥ (सं. शा. १-३७)

अन्वय — ततः चित्तिचेत्ययोः अपि इतरेतराध्यसनमेव उचितं भवेत्, रजतभ्रमादिषु तथाऽवगमात्। गुरुतरा कल्पना न हि घटते।

"इदं रजतम्" इत्यादि स्थलों पर परस्परध्यास होने के कारण सद्वर्णचिह्न और घटादिदृश्यरूपचेत्य में भी परस्परध्यास होना उचित ही है। इसलिए आत्मा में अनात्मा का ही अध्यास होता है—ऐसा न मानकर के आत्मा में अनात्मा का अध्यास और अनात्मा में आत्मा का अध्यास होता है—ऐसा माना जाता है और ऐसे अध्यास की कल्पना को गुरुतर भी नहीं माना जा सकता है। क्योंकि रजतादि भ्रम के समान अहम् इस भ्रम में भी समीक्षकों को द्विरूपता (अहंकारावच्छिन्नचिह्न) की प्रतीति होती है, क्योंकि चित्रादि शब्दों के समान अहम् शब्द भी मिश्रित तत्त्व (चेतनाचेतन) का वाचक है। इस प्रकार उपपादित परस्परध्यास का उपसंहार करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि—

अनुभूति—युक्त्यनुमितित्रितयादितरेतराध्यसनमेव ततः।

चिति—चेत्यवस्तुयुगलस्य, न चेत् त्रितयस्य बाधनमिहापतति॥ (सं. शा. १-३८)

अन्वय — ततः अनुभूतियुक्त्यनुमितित्रितयात् चित्तिचेत्ययुगलस्य इतरेतराध्यसनसिद्धिः न चेत् त्रितयस्य इह बाधनम् आपतति।

पूर्वोक्त श्लोकों में यह दिखाया जा चुका है कि अनुभूति युक्ति और अनुमिति के आधार पर परस्परध्यास की सिद्धि होती है। ऐसी स्थिति में चेतन आत्मा और अहङ्कारादि अनात्मा का परस्परध्यास नहीं मानेंगे तो पूर्वोक्त प्रमाणों (अनुभूति युक्ति—अनुमिति) के बाध हो जाने की आपत्ति होगी, जो कि अनुचित ही माना जायेगा॥ २८॥

१. गौरवग्रस्तापि समीचीना भवतीत्यर्थः। २. चितिः — सद्वर्णचिह्न। चेत्यम्— घटादिदृश्यम्।

३. इह चित्तिचेत्यवस्तुयुगले परस्परध्यासो न स्याच्चेत्तर्हि अनुभूतियुक्त्यनुमितित्रितयस्य बाधनमापतेदित्यर्थः।

लघुचन्द्रिका

अस्य=इदमर्थस्य। न यदीत्यादि। यदीदमर्थो न कल्पितः, तदा भ्रमे न स्फुरेत्। शुक्तिरिव=शुक्तित्वविशिष्टमिवेत्यर्थः। इतरेतराध्यसनम्=परस्परवच्छेदेनाध्यासः। गुरुतरेति॥ रजतादिभ्रमे यथा छट्म, तद्विपरीता व्यावहारिकभ्रमस्थल एकस्यैवाध्यास उत्पत्तिश्चेति कल्पनाऽनुपस्थित-विषयकत्वेन गुर्वी। आवश्यकानामनन्तसत्तादात्म्यानां विषयत्वरूपाणामनध्यस्तत्वे सत्यत्वापत्तेः, अद्वैतश्रुतिसङ्कोचापत्तेश्च। तेषामध्यस्तत्वेऽपि न जन्यत्वमिति स्वीकारे कपालादिनिष्ठविषयत्वा-

सत्यानन्दप्रबोधिका

संक्षेप शारीरक १/३४ में “रजतभ्रमेऽस्य” के “अस्य” पद का अर्थ इदमर्थ है। ‘न यदि.....’ इत्यादि का तात्पर्य यह है कि यदि रजतावच्छिन्नचित् में इदमर्थ (इदंतादात्म्य) कल्पित नहीं होता तो “रजतमिदम्” इस भ्रम स्थल पर इदमर्थ का स्फुरण नहीं होता। “शुक्तिरिव” का अर्थ है—शुक्तित्व विशिष्ट के समान। अर्थात् शुक्तित्व विशिष्टत्वेन शुक्ति का भ्रम में भान नहीं होता है अपितु पुरोवर्तित्वविशिष्टत्वेन ही शुक्ति की प्रतीति होती है। अर्थात् शुक्तित्व विशिष्टत्वेन शुक्ति जैसे न तो कल्पित (प्रातिभासिक) है और न तो भ्रम में शुक्तित्व विशिष्टत्वेन शुक्ति का भान ही होता है, वैसे ही इदमर्थ यदि कल्पित नहीं होता तो भ्रम में इदमर्थ का भान नहीं होना चाहिए था। ऐसा अर्थ इसलिए किया गया कि कोई यह न समझ ले कि शुक्ति का सर्वथा ही भान नहीं होता है। दूसरी बात यह भी है कि इस प्रकार से अर्थ न करने से कोई ऐसा भी दोष दे सकता था कि भ्रम में इदमर्थेन शुक्ति का भान होता है। अतः भ्रम में शुक्ति का भान नहीं होता है—ऐसा कथन “शुक्तिरिव” के द्वारा जो किया गया है, वह असङ्गत है। “इतरेतराध्यसनम्” का अर्थ है—परस्पर अवच्छेद से अध्यास। अर्थात् अनात्मावच्छिन्नचित् में चित्तादात्म्य, चित्तधर्म का संसर्ग का अध्यास होता है और तादात्म्योपहितचिदवच्छिन्न शुद्धचित् में अनात्मा का, अनात्मतादात्म्य का और घटत्वादि संसर्ग का अध्यास होता है। “गुरुतरा” इत्यादि का भाव यह है कि रजतादि भ्रम स्थल पर जैसे परस्परवच्छेद देखा गया है किन्तु व्यावहारिक भ्रम स्थल पर परस्परवच्छेद न मानकर एक का ही अध्यास और उत्पत्ति होती है— इस प्रकार की कल्पना जो की जायेगी। वह कल्पना अनुपस्थित विषयिणी होने से गौरवदोष से ग्रस्त है। अर्थात् “इदंरजतम्” और “रजतमिदम्” इस प्रातिभासिक स्थल पर परस्पर अध्यास देखा गया है किन्तु प्रातिभासिक जैसे ही व्यावहारिक भ्रमस्थल पर परस्पर अध्यास न मानकर केवल चित् में ही चेत्य का अध्यास होता है और चित् में ही चेत्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा मानोगे तो प्रातिभासिक स्थल से भिन्न व्यावहारिक स्थल पर एक नवीन प्रकार की कल्पना करनी पड़ेगी, जिससे गौरवदोष होगा। दूसरी बात यह है कि विषयत्वरूप आवश्यक अनन्त सत्तादात्म्यों को यदि अध्यस्त नहीं माना जाता है तब तो उन अनन्त सत्तादात्म्यों में सत्यत्व की आपत्ति होगी। उनमें सत्यत्व की आपत्ति आने पर अद्वैतश्रुति में भी सङ्कोच की आपत्ति होगी। अर्थात् अद्वैतश्रुति का ऐसा अर्थ करना पड़ेगा कि अनन्त सत्तादात्म्यों से अतिरिक्त द्वैताभाव का प्रतिपादक अद्वैतश्रुति है। ऐसा अर्थ करने पर दोष यह होगा कि अद्वैतश्रुति में आया हुआ द्वितीय पद जो कि द्वैतसामान्यार्थक है, उसको द्वैतविशेषार्थक मानना पड़ेगा। यदि उन अनन्त सत्तादात्म्यों को अध्यस्त मानकर भी उनमें जन्यत्व नहीं माना जाता है, तब पीछे जो कहा गया था “व्यावहारिकस्येदमादेः स्वावच्छिन्नसंयोगादौ यत् कारणत्वं क्लृप्तं तदवच्छेदकतासम्बन्धेन स्वावच्छिन्नसामान्यस्योत्पत्तौ (तादात्म्येन इदमः कारणत्वं स्वीक्रियते)— इस प्रकार व्यावहारिक और प्रातिभासिक वस्तु सामान्य की उत्पत्ति के प्रति यह

लघुचन्द्रिका

वच्छिन्नानां घटादिनिष्ठविषयत्वानां पूर्वोक्तरीत्या कपालादिनाऽप्यवच्छिन्नत्वात्तद्व्यनित्यसाधारणेन कपालाद्यवच्छिन्नत्वरूपेण संयोगादीनां कपालादिकार्यता न सम्भवति, इत्यतो जन्यत्वविशेषितेनोक्तरूपेण सा वाच्या। तथा चैतादृशगुस्तरकल्पनामूलकत्वेनैकस्यैवाध्या सोत्पादादिकल्पनागुस्तरेत्यर्थः। अनुभूतिः—आकारद्वयानुभूतिराद्यप्यस्यऽऽद्यार्थे उक्ता। अनुमितिः—प्रमविषयत्वहेतुका

सत्यानन्दप्रबोधिका

सामान्यकार्यकारणभाव माना गया था। वह व्यभिचरित हो जायेगा। इसी का स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जहां “कपालनिष्ठं घटं जानामि” इस प्रकार का अनुभव होगा, वहां ज्ञान में कपालनिष्ठविषयत्वावच्छिन्नत्वेन घटनिष्ठ विषयता भासेगी। यहां घटविषयता का अवच्छेदक जब कपालविषयता है, तब घट विषयता का अवच्छेदक कपाल भी पूर्वोक्त रीति से हो जायेगा। अर्थात् पीछे कहा गया था “यस्य यदवच्छेदकत्वं तत्सम्बन्धस्यापि तदवच्छेदकत्वनियमात्” इसी को यहां अन्य प्रकार से कह रहे हैं—“यत्सम्बन्धस्य यदवच्छेदकं तस्यापि तदवच्छेदकम्।” अर्थात् कपाल विषयता (चित् के साथ कपाल का सम्बन्ध) जब घटविषयता का अवच्छेदक है, तब कपाल भी घटविषयता (घटनिष्ठ सत्तादात्म्य) का अवच्छेदक होगा। कपालावच्छिन्नत्व जैसे संयोगादि पदार्थ में है वैसे ही सत्तादात्म्यादि पदार्थों में भी है, किन्तु कपालावच्छिन्न सत्तादात्म्य के प्रति कपाल कारण नहीं हो पायेगा, क्योंकि तुम सत्तादात्म्य को अजन्य मान रहे हो। यदि सत्तादात्म्य जन्य होता तब उसके प्रति कपाल कारण हो सकता था। इसलिए पीछे जो सामान्य नियम के आधार पर कहा गया था कि अवच्छेदकतासम्बन्धेन कपालावच्छिन्नवस्तुसामान्य के प्रति तादात्म्येन कपाल कारण है—उस नियम का व्यभिचार सत्तादात्म्य में हो गया। अर्थात् उक्त नियम के अनुसार व्याप्ति का आकार होगा “यत्र यत्र कपालावच्छिन्नत्वं तत्र तत्र कपालकार्यत्वम्।” सत्तादात्म्य में व्याप्य है किन्तु व्यापक नहीं है। अतः व्यभिचारदोष हो गया। उक्त व्याप्ति में व्यभिचार दोष होने के कारण कपालावच्छिन्न जो सत्तादात्म्यादि नित्य और संयोगादि अनित्य पदार्थ हैं। उन दोनों का ही कारण कपाल नहीं हो पायेगा। अर्थात् कपालावच्छिन्नत्व तो संयोगादि जन्य पदार्थों में है और संयोगादि कपाल के कार्य भी है, किन्तु कपालावच्छिन्नत्वेन संयोगादि कपाल के कार्य नहीं है, क्योंकि कपाल से अवच्छिन्न सत्तादात्म्यादि को कपाल का कार्य नहीं माना जा रहा है, अपितु उनको अजन्य कहा जा रहा है। अतः कपाल के कार्य संयोगादि में कार्यकारणभाव सिद्ध करने के लिए उक्त कार्यकारण को संकुचित करके इस प्रकार से कार्यकारणभाव बनाना होगा—अवच्छेदकता सम्बन्धेन स्वावच्छिन्न जन्यपदार्थोत्पत्तिं प्रति तादात्म्येन कपालादि कारणम्। अर्थात् यत्र यत्र जन्यत्वे सति कपालावच्छिन्नत्वं तत्र तत्र कपालकार्यत्वम्। तब सत्तादात्म्य में व्यभिचार भी नहीं होगा और संयोगादि का कारण भी कपालादि सिद्ध हो जायेंगे। किन्तु इस प्रकार से सत्तादात्म्य को अजन्य मानने से उक्त कार्यकारणभाव में जन्यत्व विशेषण जोड़ने की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि दृष्टान्त (इदं रजतम्—रजतमिदम्) और दार्ष्टान्त (सन्तं घटं जानामि—घटं सन्तं जानामि अथवा आत्मा का अनात्मा में और अनात्मा का आत्मा में) दो तादात्म्यों की उत्पत्ति न मानकर एक ही तादात्म्य की उत्पत्ति की कल्पना में महान गौरव दोष होगा। संक्षेप शारीरक १/३८ के श्लोक में आये हुए अनुभूति पद से आकारद्वय की अनुभूति (दृष्टान्त में “इदं रजतम्” और “रजतमिदम्” तथा दार्ष्टान्त में “सन्तं घटं जानामि” और “घटं सन्तं जानामि”) का ग्रहण किया गया है जो कि संक्षेप शारीरक १/३४ के पद्य के पूर्वार्ध में कही गयी है। अनुमित पद से

लघुचन्द्रिका

मिथ्यात्वानुमितिस्तृतीयचरणे। युक्तिः—तर्कः, चतुर्थचरणे॥ २९॥

पञ्चपादिकायामप्युक्तम्—“यद्यनात्मन एवाध्यासः, तदा आत्मा न भ्रमे भासेत। तस्मादात्मानात्म— नोर्द्वयोरप्यहमनुभवोऽध्यासः” इति॥ ३०॥

ननु—विप्रतिपत्तौ मिथ्यात्वविशेषस्यैव साध्यतयोक्तत्वान्यायप्रयोगेऽपि तस्यैव तदुचितम्, नतु मिथ्यात्वसामान्यस्येति—चेत्, न ; विप्रतिपत्तावपि मिथ्यात्वस्य सामान्यरूपेणैव साध्यतायां तात्पर्यात्। तच्च सामान्यरूपं वक्ष्यमाणपञ्चविधमिथ्यात्वसाधारणं मिथ्याशब्दार्थत्वरूपं

सत्यानन्दप्रबोधिका

भ्रमविषयत्वहेतुक मिथ्यात्वानुमिति (सत्तादात्म्यं मिथ्या, भ्रमविषयत्वात् शुक्तिरूप्यवत्) तृतीय पाद (सं. शा. १/३४ के तृतीयपाद) में कही गयी है। युक्ति पद का अर्थ तर्क है जो कि संक्षेप शारीरक १/३४ के चतुर्थ पाद में कहा गया है॥ २९॥

पञ्चपादिकाकार ने पञ्चपादिका में कहा है कि यदि आत्मा में अनात्मा का अध्यास होता और अनात्मा में आत्मा का अध्यास नहीं होता तो भ्रम में आत्मा भासित नहीं होता किन्तु “अहं करोमि” “अहं कृशः” इत्यादि स्थल पर जो अहम् का अनुभव है, उसमें आत्मा और अनात्मा का परस्पर अध्यास होता है॥ ३०॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा विप्रतिपत्ति वाक्य में साध्य कहा गया था—प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगि न वा? यह तो पञ्चविध मिथ्यात्वों में से त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप द्वितीय मिथ्यात्व विशेष का कथन है। अतः पञ्चावयववाक्य का घटक प्रतिज्ञावाक्य में भी उसी मिथ्यात्व विशेष को ही कहना चाहिए था, जबकि प्रतिज्ञावाक्य में कहा गया है—विमतं मिथ्या। इस प्रकार से प्रतिज्ञावाक्य में मिथ्यात्वसामान्य को साध्य बनाना उचित नहीं है, क्योंकि विप्रतिपत्ति वाक्य और प्रतिज्ञावाक्य में समानरूपता नहीं हो पा रही है। कहने का आशय यह है कि विप्रतिपत्ति वाक्य में जिसका उल्लेख होता है वहीं जिज्ञासित होता है। उसी को अनुमान में साध्य बनाकर सिद्ध किया जाता है, किन्तु प्रकृत में विप्रतिपत्ति वाक्य में द्वितीयमिथ्यात्व विशेष जिज्ञासित है किन्तु अनुमान में मिथ्यात्वसामान्य को साध्य बनाने पर विप्रतिपत्तिवाक्य में आये हुए द्वितीय मिथ्यात्व को छोड़कर तृतीय—चतुर्थादि मिथ्यात्वों को भी साध्य के रूप से ग्रहण करने पर अर्थान्तर दोष होगा। यही पूर्वपक्षी के कथन का तात्पर्य है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विप्रतिपत्तिवाक्य में भी सामान्य रूप से मिथ्यात्व की साध्यता में ही तात्पर्य है, केवल द्वितीय मिथ्यात्व विशेष को साध्य बनाने में नहीं, अन्यथा मध्यस्थ के कथन में न्यूनता आ जायेगी, क्योंकि पाँचों प्रकारों के मिथ्यात्व का विचार करना था और विचार एक विशेष मिथ्यात्व पर ही हो रहा है। अतः विप्रतिपत्तिवाक्य और प्रतिज्ञावाक्य में समानरूपता होने के कारण पूर्वोक्त प्रकार से अर्थान्तर दोष नहीं होगा। “विप्रतिपत्तावपि मिथ्यात्वस्य सामान्यरूपेणैव....” में आये हुए सामान्यमिथ्यात्व का अर्थ पञ्चविधमिथ्यात्वान्यतमत्व है—ऐसा कोई न समझ ले। इसलिए सामान्यमिथ्यात्व का अर्थ स्वयं ही स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि सामान्यमिथ्यात्व का अर्थ—वक्ष्यमाण पञ्चविधमिथ्यात्व में साधारण और मिथ्या शब्द की प्रवृत्ति निमित्त रूप मिथ्याशब्दार्थत्व है, पञ्चविधमिथ्यात्वान्यतमत्व नहीं, क्योंकि अनुमान के प्रयोग में आधुनिक लक्षणा (निरूढलक्षणा से भिन्न लक्षणा) के द्वारा शब्द का प्रयोग असम्प्रदायिक माना जाता है। मिथ्या शब्द से मिथ्याशब्दार्थत्वरूपेण मिथ्यात्व के बोधन में निरूढलक्षणा ही मानी

लघुचन्द्रिका

मिथ्याशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्, नतु पञ्चविधमिथ्यात्वानामन्यतमत्वम्; न्यायप्रयोग आधुनिकलक्षणाया शब्दप्रयोगस्यासाम्प्रदायिकत्वात्। मिथ्याशब्दार्थत्वरूपेण मिथ्याशब्देन मिथ्यात्वस्य बोधने (तु) निरूढलक्षणैव, नाधुनिकलक्षणा; 'वृक्षो महीरूहः' इत्यादौ कोशवाक्ये व्याख्यानवाक्ये च महीरूहादिपदस्य तदर्थपरत्वेन भूरिप्रयोगदर्शनात्॥३१॥

इति लघुचन्द्रिकायां पक्षतावच्छेदकविचारः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाती है। अर्थात् निरूढलक्षणा का अर्थ होता है—अनादित्वात्पर्यावगाहिनी पदनिष्ठावृत्ति = अनादिकाल से किसी पद का जिसमें तात्पर्य समाज में प्रसिद्ध है, उसको बोधन करने वाली वृत्ति को निरूढलक्षणा कहते हैं। अनादिकाल से मिथ्या शब्द से सभी प्रकार के मिथ्यात्व का बोधन होता है। अतः मिथ्याशब्द से पञ्चविधमिथ्यात्वान्यतमत्वेन मिथ्यात्व का बोधन होने पर आधुनिक लक्षणा माननी होगी। आधुनिक लक्षणा का अर्थ है कि जिस अर्थ में अनादिकाल से तात्पर्य समाज में प्रचलित नहीं है, उस अर्थ को बोधन करने वाली वृत्ति को आधुनिक लक्षणा कहते हैं। इस लक्षणा से न्याय प्रयोग में शब्दों का प्रयोग करना असाम्प्रदायिक माना जाता है। जैसे किसी ने न्याय प्रयोग में घट कहा, इसके पश्चात् जब दोष आने लगा तब कहा कि लक्षणा वृत्ति से घट का अर्थ पट करेगा। किन्तु ऐसा माना नहीं जाता है। निरूढलक्षणा से शब्दों का प्रयोग बहुत प्रचलित है तथा साम्प्रदायिक भी है और सभी लोग इसका प्रयोग करते भी हैं। इसको उदाहरण के द्वारा पुष्ट करते हुए कह रहे हैं कि वृक्ष का वाच्यार्थ वृक्षत्व है किन्तु कोष में वृक्ष का अर्थ महीरूह किया गया है, वह निरूढलक्षणा से ही किया गया है। इसी प्रकार किसी श्लोकादि में वृक्ष शब्द आया है और व्याख्याकार उसका अर्थ महीरूह करते हैं तो वैसा अर्थ निरूढलक्षणा से ही होता है। इस प्रकार से वृक्षादि पद का महीरूहादि अर्थ या महीरूहादि पद का वृक्षादि अर्थ अनेक प्रयोगों में दिखलायी देता है॥३१॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिश्रीस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरि—

शिष्यस्वामिविशुद्धानन्दगिरिकृतायामद्वैतसिद्धिटीकालघुचन्द्रिका—

टीकासत्यानन्दप्रबोधिकायां पक्षतावच्छेदकविचार—

पर्यन्तविवरणं समाप्तम्।

॥ श्रीशङ्करः प्रीयताम् ॥



ॐ श्रीगोकुलेश्वरमहादेवो विजयतेतराम्

अद्वैतसिद्धिः

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिप्रणीता प्रश्नोत्तरी

प्रश्नः — १ “एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म” इति श्रुत्यर्थः यथाग्रन्थं प्रतिपाद्यताम्?

उत्तरम् — न्यायामृतकारेण उक्तम्—एकमेवेत्यादि श्रुतिनामपि नाद्वैतपरत्वम्। “सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति” (बृ. उ. ४-३-३२) इत्यत्र सलिलपदेन “सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्” इत्यत्राग्रपदेन “तदैक्षत नामरूपे व्याकरवाणि” इत्युत्तरद्वैतवाक्येन च विरोधात्। एवञ्च एकमेवेति श्रुतिः नाद्वैते प्रमाणम्। एक शब्दो हि अन्यप्रधानासहायप्राथम्यसमानादिरूपानेकार्थबोधको मानान्तराविरूद्धान्यत्वप्राधान्यप्राथम्यादिबोधनेनेश्वरस्य सृष्ट्यादौ सहायानपेक्षत्वं कुसमयप्राप्तनिगुणत्वनिषेधं चैवज्ञापयतीति न तेन प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिः। वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादिभिः। तथा सद्रवस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते। ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैः त्रिभिः क्रमात् इति स्वगतभेदपरस्यैकशब्दस्य मिथ्यात्वसमर्पकत्वासम्भवाच्च। अद्वितीयशब्दोऽपि कर्मधारयो बहुब्रीहिर्वा? आद्ये ब्रह्म द्वितीयं न चेत्, तृतीयं प्रथमं वा स्यात्। नान्त्यः, प्राथम्येन कर्मधारये सम्भवति जघन्यस्य बहुब्रीहिरयोगात्। द्वितीयादन्यदद्वितीयमिति “अनुपसकस्य” इत्यादाविव “नार्थेयं वृणीत” इत्यादाविव च पर्युदासार्थत्वेनैकवाक्यत्वसम्भवे प्रसज्यप्रतिषेधार्थत्वेनैकवाक्यभेदायोगाच्च। अघटं भूतलमिति वद् द्वितीयाभावेन सद्वितीयत्वापाताच्च, तस्यापि निषेधे व्याघातात्।

सर्वासु उपनिसत्सु उपक्रमोपसंहारयोरद्वैते एव पर्यवसानात् अद्वैतस्यैव महाप्राकरणिकतया अवान्तरवाक्यानां महाप्राकरणिकार्थानुगुणतया व्याख्येयत्वान्नैवमिति समाधत्ते सिद्धान्ती—सलिल शब्दार्थस्य सर्वमलासंसर्गित्वरूपस्याग्रपदस्य तदैक्षतनामरूपे इत्येतदर्थस्याविद्यकद्वैतरूपस्य चाद्वैताविरोधित्वात् सद्व्यतिरेकासत्त्वस्यैव विवक्षणेन सदेवेदमिति वाक्येन सदभिन्नत्वेन सत्त्वेन बोधितस्यापि अद्वितीयपदेन निषेधोपपत्तेः। षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुत्यनुसारेण द्वैतश्रुतिनामपि अद्वैततात्पर्यकत्वस्येवाङ्गीकारेण द्वैतसत्यत्वानवगमाच्च महाप्राकरणिका—द्वैतपरतयैवैकमिति श्रुति व्याख्येयेति अद्वितीयादिपदानां सर्वनिषेधादिपरतया व्याख्यानमेव युक्तम्। तृतीय प्रथमयोरपि किञ्चिदपेक्ष्य द्वितीयत्वेन अद्वितीयपदे तत्पुरुषाश्रयणायोगेन न विद्यते द्वितीयं यत्रेति बहुब्रीहरेव युक्तत्वात् द्वितीयपदस्य समानद्वितीयपरत्वेऽपि न दोषः, सजातीयद्वितीयभेदस्यैव तेन विवक्षणात्। वस्तुतस्तु—अद्वितीयपदेनैव सर्वनिषेधादेकावधारणपदे तात्पर्यग्राहके एवेति न दोषः।

प्रश्नः २—दृष्टिसृष्टिवादो निरूप्यताम्?

उत्तरम् — श्रुतिसूत्रसम्मतयेयं दृष्टिसृष्टिप्रक्रिया, न तु यथाकथञ्चित् उत्प्रेक्षितेयं परवर्तिकालीना। अस्यां प्रक्रियां पूर्वपक्षिणोत्प्रेक्षितानां दोषाणां समाधानाय प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्ध्यनुकूलत्वादिमां प्रक्रियामवतारयति ग्रन्थकारः—शुक्तिरूप्यस्वप्नादिवदिति। प्रपञ्चस्य शुक्तिरूप्यवत् स्वप्नादिवच्च

दृष्टिसृष्ट्यन्यथानुपपत्त्या द्रष्टृन्तरावेद्यत्वेसति ज्ञातैकसत्त्वादिरूपस्य दृष्टिसृष्टित्वस्य जगति सम्प्रतिपन्नस्य जगतो मिथ्यात्वं विनाऽनुपपत्त्या जगतो मिथ्यात्वसिद्धिः। का नामेयं दृष्टिसृष्टिरिति पूर्वपक्षी पृच्छति— १. दृष्टिरेव सृष्टिरिति वा?, २— दृष्टिव्यतिरिक्त सृष्ट्यभावो वा?, ३— दृष्टिव्यतिरेकेण सृज्याभावो वा?, ४— दृष्टिसामग्रीजन्यत्वं वा?, ५— दृष्टिसमानकालीनसृष्टिर्वा?, ६— दृष्टिसमानसत्ताकसृष्टिर्वा?, ७— सदसद्विलक्षणत्वं वा?, ८— त्रिविधसत्त्वबहिर्भूतत्वे सति असद्विलक्षणत्वं वा?, ९— अज्ञातसत्त्वाभावो वा?, १०— ज्ञातैकसत्त्व वा? आद्ये वृत्तिरूपाचैतन्यरूपा वा दृष्टिरभिमता। प्रथमे— रमवृत्तिविषयब्रह्मणोऽपि चरमवृत्तिरूपतया क्षणिकत्वापातात्। द्वितीये— दृष्टिपदस्य चैतन्यरूपत्वे सर्वदा सृष्ट्यापत्तिः, चैतन्यस्य सदातनत्वात्। न तृतीयः, “ज्ञातो घटः, घटज्ञानं न ज्ञातम्” इत्यनुभवविरोधात्। न चतुर्थः, एक सामग्रीप्रसूतत्वेन घटादेर्दृष्ट्यभिन्नत्वेन अनन्तरोक्तदोषात्। न पञ्चमः, शाब्दादिज्ञानसमानकालीनघटादौ सिद्धसाधनात्, तद्वदन्यत्रार्थान्तरतापत्तेश्च। न षष्ठः, उभयसत्त्वेऽप्युपपत्तेः सिद्धसाधनात्। न सप्तमः, अस्यैव मिथ्यात्वरूपत्वेन तत्साधनायैव तदुपन्यासानुपपत्तेः। नाष्टमः, त्रिविधसत्त्वमध्ये प्रातिभासिकसत्त्वस्याप्यन्तर्भावेन दृष्टिसृष्टिपक्षे तद्वति जगति तद्बहिर्भावानुपपत्तेः। न नवमः, तुच्छसाधारण्यात्। न दशमः, सुखादौ सिद्धसाधनात्, तद्वदन्यत्रार्थान्तराच्चेति चेन्न दोषप्रयुक्तत्विनबन्धनस्य ज्ञातैकसत्त्वस्याज्ञात— सत्त्वाभावस्य वा प्रतिपन्नोपाधिदृष्टिजन्यज्ञातैकसत्त्वस्य वा द्रष्टृन्तरावेद्यत्वे सति ज्ञातैकसत्त्वस्य वा विवक्षितत्वात् तथा च न सुखाद्यंशे सिद्धसाधनम्, तद्वदन्यत्रार्थान्तरं वा। जीवेशब्रह्मादि— नामनादिवस्तूनां दृष्टिसृष्टित्वे स्थायित्वं न स्यात्, तथा च तेषामनादित्वव्याकोपः प्रत्यभिज्ञानादिना विश्वस्य स्थायित्वप्रतिपादनं सूत्रभाष्यकारादीनामसङ्गतं स्यादिति चेन्न, अनाद्यतिरिक्तविषये दृष्टिसृष्टित्वाभ्युपगमात् कार्यात्मना दृष्टिसृष्टित्वेऽपि कारणात्मना वस्तुनः स्थायित्वाभ्युपगमात् न प्रत्यभिज्ञाविरोधः। दृष्टिसृष्टिपक्षे दृश्यमात्रस्य प्रतीतिमात्रशरीरत्वे कार्यस्य नियतकारण— जन्यत्वाभावात् स्वर्गाद्यर्थं ज्योतिष्टोमादेर्ब्रह्मसाक्षात्कारार्थं श्रवणादेर्विधानं न स्यात्, श्रुतौ आकाशादेर्वाय्वादिकारणत्वोक्तिरसङ्गता स्यादिति चेन्न, स्वप्नदशायां कल्पितकार्यकारण— भावबोधकवाक्यवत् श्रुतिवाक्यस्योपपत्तेः। यथा स्वाप्नवाक्यात् कार्यकारणभावबोधो जायते एवमेव श्रुतिवाक्यादपि। अनात्मप्रपञ्चस्य दृष्टिसृष्ट्युपगमे प्रतिकर्मव्यवस्थाया अनुपपत्तिः सम्प्रयोगसंस्कारदोषजन्यत्वरूपस्य अध्यासलक्षणस्य च अयोगः स्यादिति चेन्न, सर्वस्य प्रातिभासिकत्वेन मिथ्यात्वादिति मन्दाधिकारिव्युत्पादनार्थत्वात् प्रतिकर्मव्यवस्थाया उत्तमाधि— कारिणं दृष्टिसृष्टिवादिनं प्रति नेयं व्यवस्था अतो न दोषः। दृष्टिसृष्टिपक्षे अध्यासस्वरूप— लक्षणस्यानपायात्र दोषः। चरमात्मसाक्षात्कारस्यापि दृष्टिसृष्टित्वेन प्रमाणजन्यत्वाभावात् तत्त्वज्ञानत्वाभावेन ततो न मुक्तिः स्यादिति चेन्न, अबाधितविषयकत्वेनैव तत्त्वज्ञानत्वोपपत्तेः तस्य च दृष्टिसृष्टित्वेऽप्यक्षतेः।

प्रश्नः ३— प्रतिकर्मव्यवस्थाप्रकारो यथाग्रन्थमुपवर्ण्यताम्?

उत्तरम् — प्रतिकर्मव्यवस्थोपपादनेनानुकूलतर्कतया मिथ्यात्वानुमानमनुगृहीतं प्रतिकर्मव्यवस्थाया अनुपपत्तौ दृश्यत्वादयो हेतवः अनुकूलतर्करहिताः मिथ्यात्वासाधकाः स्युरिति प्रकरणस्योत्थानबीजम्। न्यायामृताकारेण उक्तम्—प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्त्याऽपि मिथ्यात्वानुमानप्रयोजकम्। तथाहि—दृश्यस्य दृग्ध्यस्तत्वे प्रातिभासिकस्थले इव इन्द्रियसन्निकर्षायोगेन त्वदुक्तप्रतिकर्मव्यवस्थाया अनुपपत्तिरिति चेन्न, द्वकदृश्यसंबन्धानुपपत्त्यादिबाधसहकृतोक्तानुमानेन प्रपञ्चकल्पितत्वसिद्ध्या प्रतीत्यविशेषोऽपि

परीक्षितत्वापरीक्षितत्वाभ्यां स्थायित्वविशेषसद्भावेन प्रत्यभिज्ञाबलात्स्थायित्वसिद्ध्या च प्रपञ्चे व्यभिचारात् कल्पितत्वस्य प्रतिभासमात्रशरीरत्वव्याप्यत्वाभावात्, विषयचैतन्याभिव्यक्तावेवापरोक्षत्वेन परोक्षवृत्तेरप्यपरोक्षत्वाप्रसङ्गेन परोक्षस्थलेऽपि वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्यैव प्रकाशकत्वेन केवलवृत्तिप्रकाशतावादस्यायुक्तत्वात्, अर्थभेदेनैव सकर्मकाकर्मकत्वव्यवस्था; तथैव करोति यतते इत्यादौ दर्शनादिति वृत्तिस्वप्रकाशतावादे उक्तव्यवस्थाया अपि भङ्गापत्तेः; परोक्षस्थलेऽपि तदाकारत्वसत्त्वेन तदाकारत्वस्य चिदुपरागेऽतन्त्रत्वेन प्रभाया इव सश्लेषेणैव विषयसंनिवृष्टतेजस्त्वेनावरणाभिभावकत्वस्यैवाङ्गीकार्यत्वेन तत्तदिन्द्रिययाधिष्ठानस्यैव सर्वत्र द्वारत्वेन त्वाचप्रत्यक्षाद्युपपत्त्या चान्तःकरणबहिर्निर्गमकल्पनस्यावश्यकत्वात्, वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य प्रकाशकत्वेऽप्यध्याससिद्धेः। विषयाधिष्ठानचैतन्याभिव्यञ्जनावश्यकतायाश्च पूर्वमेवोपपादितत्वात्, अस्तीत्यादितद्विषयव्यवहारप्रतिबन्धकाज्ञाननिवर्तनयोग्यत्वस्य तत्संनिवृष्टकरणजन्यत्वस्य वा तदाकारत्वस्यापि निर्वचनसंभवात् उपाधिविशेषाज्जीवशब्देन ब्रह्मशब्देन च व्यवहियमाणस्य शुद्धचैतन्यस्यैवाधिष्ठानत्वेऽपि तदीयमूलाविद्यानिवृत्त्यभावेन जगदान्याप्रसङ्गात्, उपाध्यविषयकब्रह्मस्फुरणस्य चरमवृत्तिप्रयुक्तत्वेन तत्सार्थक्यसंभवाच्च पूर्वोक्तमतत्रयमपि युक्तमेव। प्रथममते—लोष्टादावपि प्रतिबिम्बापत्तेरुद्धतरूपवत्त्वस्य प्रतिबिम्बोपाधिताप्रयोजकत्वासंभवेन स्वच्छत्वस्यैव तत्वात् सत्त्वगुणवत्त्वेन स्वच्छायामविद्यायां नीरूपस्याकाशस्यैव तादृशस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बसंभवेन तत्प्रतिबिम्बत्वरूपस्य तदुपरक्तत्वस्य चिति संभवात्, स्वभावतोऽसंबद्धस्य चैतन्यस्य तदाकारवृत्त्या तदेकसम्बन्धेन प्रभाया रूपरसादिगततमोनाशकत्ववत् सर्वावभासकत्वाप्रसङ्गात्, अकर्तृत्वप्रतिपादनपराया असङ्गश्रुतेः संबन्धसामान्याभावपरत्वस्यैव युक्तत्वात्, ब्रह्मणोऽप्यसंगत्वेऽपि सर्वेषां तत्राध्यासेन मायोपाधिं विनैव तत्र सर्वप्रकाशकत्वरूपसर्वज्ञत्वस्याविद्याकल्पितस्याङ्गीकाराच्च न कोऽपि दोषः। द्वितीयमतेऽपि — शुक्तिज्ञानेनावरणशक्तिविनाशेऽपि मूलाज्ञानविनाशाभावेन सद्योमोक्षाभावस्य रूप्यादौ सविलासाज्ञाननिवृत्तिरूपबाधस्य चोपपत्तेः, ज्ञानमज्ञाननिवर्तकमिति व्याप्तेरुच्छेद— विषयत्वात्, अवच्छिन्नचैतन्यावरणरूपतूलज्ञाननिवर्तकत्वेनाभिव्यक्तचैतन्यसंबन्धादबाधदशायां, रूप्यनिवृत्तिशुक्तिप्रकाशयोरेष्युपपत्तेः, चैतन्यमात्र एवाविद्यायास्तच्छक्तेर्वाङ्गीकारेऽपि तस्मिन्नेव सर्वस्यापि जडस्याध्यासेनोक्तश्रयाश्रितत्वसंबन्धाज्जडावच्छिन्नचैतन्यमावृतमिति व्यपदेश इति घटाद्याकारवृत्त्या तदधिष्ठानचैतन्याभिव्यक्तौ तदवच्छेदेनैव तन्निष्ठावरणाभिभवो जायत इति शुद्धात्मप्रकाशानापत्तेः, अविद्यायां सत्यामपि शक्त्यभिभवाद्वा, तूलज्ञाननाशाद्वा, अवस्था— विशेषप्रच्यावाद्वा, एकदेशनाशाद्वा, भीरुभटवदपसरणाद्वा, कटवत्संवेष्टानाद्वाऽवरण— भङ्गानिमोक्षबाधानामुपपत्तेः, अज्ञान इव तदवस्थायामपि तदभिन्नायां ज्ञानसाक्षान्नित्यत्वे बाधकाभावात्, एकावरणनिवर्तकवृत्त्यैवावरणान्तराणामपि प्रतिरोधेन यावद्वृत्ति प्रकाशोपपत्तेः, अनाद्यज्ञानविषयेऽनादिचैतन्ये तत्तदागन्तुकपदार्थावच्छेदकाभ्युपगमेन निर्विषयावरणा— वस्थानाप्रसङ्गाच्च न कोऽपि दोषः। तदयं निष्कर्षः— एकवृत्त्युपापोहलक्षणैकलोलीभावापन्नं सत् प्रमातृप्रमाणाभिन्नतया भासमानं प्रमेयचैतन्यं अपरोक्षं फलमित्युच्यते, तेन भास्यं तदध्यस्तं तु फलव्याप्यमित्युच्यते, एवंच प्रमात्रवच्छिन्नस्यासत्त्वावरणस्य प्रमेयावच्छिन्नस्याभानावरणाज्ञानस्य चापसरणादुपपत्त्यं मे स्फुरतीत्याद्यपरोक्षव्यवहारः। परोक्षस्थले तु इन्द्रियसंनिर्कर्षलक्षण— द्वाराभावादन्तःकरणनिःसरणाभावेन विषयपर्यन्तं वृत्तेरनिर्गमाद्विषयावच्छिन्नप्रमेयचैतन्येन प्रमातृचैतन्यस्यैकवृत्त्युपरुद्धत्वाभावेनापरोक्षतयाऽभिव्यक्त्यभावेऽपि प्रमातृप्रमाणचैतन्ययोरेकलोली—

भावापत्त्या प्रमात्रवच्छिन्नासत्त्वावरणमाणनिवृत्तिरिति विवेक इति सर्वमनवद्यम्।

प्रश्नः ४— आदितो विशेषानुमानत्रयं व्याख्यायताम्?

उत्तरम् — १— ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यब्रह्मान्यासत्त्वानधिकरणत्वं पारमार्थिकसत्त्वाधिकरावृत्ति, ब्रह्मावृत्तित्वात्, शुक्तिरूप्यवत्, परमार्थसद्भेदवच्च। अयमर्थः—ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यं यद् ब्रह्मान्यत् तद्वृत्तित्वविशिष्टः असत्त्वाभावः पक्षः, अयं च सामान्यतो मिथ्यात्वानुमाने य पक्षस्तत्सदृश एव व्यावहारिकप्रपञ्चमात्रवृत्तिधर्मः पक्षः। पारमार्थिकसत्त्वाधिकरणावृत्तीति साध्यं, पारमार्थिक सत्त्वं न पारमार्थिकं किन्तु व्यावहारिकमेव, तच्च सामान्यानुमानोक्तरीत्या धीविशेषविषयत्वादिकरूप—मेतादृशपारमार्थिकसत्त्वाधिकरणे ब्रह्मणि न वर्तते। व्यावहारिकप्रपञ्चमात्रवृत्तिधर्मरूपे पक्षे ब्रह्मावृत्तित्वं हेतुर्वर्तते। शुक्तिरूप्यत्वं परमार्थसद्भेदश्च दृष्टान्तः, तत्र ब्रह्मावृत्तित्वे हेतुर्वर्तते। पारमार्थिकसत्त्वाधिकरणावृत्तित्वञ्च साध्यमपि वर्तते। दृष्टान्ते हेतुसाध्ययोः सामानाधिकरण्येन व्याप्तिग्रहात् पक्षे हेतोः सत्त्वेन साध्यस्य सिद्धिरिति भावः। व्यावहारिकप्रपञ्चमात्रवृत्तिधर्मस्य पारमार्थिक—सत्त्वाधिकरणावृत्तित्वे सिद्धेः प्रपञ्चस्यापारमार्थिकत्वमेव सिध्यति।

२— विमतं मिथ्या, ब्रह्मान्यत्वात्, शक्तिरूप्यवत्। अयमर्थः—व्यावहारिकप्रपञ्चः पक्षः। अत्र साध्यबोधकमिथ्यापदस्य सद्विलक्षणत्वमर्थः न तु सदसद्विलक्षणत्वमसति ब्रह्मान्यत्वस्य हेतोः सत्त्वेऽपि सदसद्विलक्षणत्वं साध्यं नास्ति इति व्यभिचारः स्यात्। अतोऽत्र सद्विलक्षणत्वमेव मिथ्यात्वं प्रपञ्चे सद्विलक्षण्यमात्रसिद्धावपि पारमार्थिकत्वापहारात् समीहितसिद्धिः। व्यावहारिकप्रपञ्चरूपे पक्षे ब्रह्मान्यत्वं हेतुर्वर्तते। दृष्टान्ते ब्रह्मान्यत्वे हेतुः वर्तते सद्विलक्षणत्वञ्च साध्यमपि वर्तते। दृष्टान्ते हेतुसाध्ययोः सामानाधिकरण्येन व्याप्तिग्रहात् पक्षे हेतोः सत्त्वेन पक्षधर्मताग्रहात् साध्यस्य सिद्धिः।

३— परमार्थसत्त्वं स्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोग्यवृत्ति, सदितरावृत्तित्वात्, ब्रह्मत्ववत्। अयमर्थः—पक्षः = परमार्थसत्त्वम्, साध्यम् = स्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोग्यवृत्तित्वम्। सदितरावृत्तित्वादिति हेतुः। ब्रह्मत्ववदिति दृष्टान्तः। साध्ये स्वपदं परमार्थसत्त्वपरम्। परमार्थसत्त्वसमानाधिकरणो योऽन्योन्याभावः सः तु अपरमार्थसत्त्वप्रतियोगिक एव। तस्य प्रतियोगी अपरमार्थसत्। तदवृत्तित्वं परमार्थसत्त्वे वर्तते। परमार्थसत्त्वं एकस्मिन्नेव ब्रह्मणि वर्तते। यदि परमार्थसत्त्वमन्यत्रापि वर्तते तर्हि परमार्थसत्त्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगिनि परमार्थसत्त्वमपि वर्तते। परमार्थसद्वस्तुनोर्भेदे एकस्मिन् परमार्थसति अपरस्य परमार्थसतः भेदोऽपि वर्तितुमर्हति, किन्तु परमार्थसद्वस्तु एकमेव। अतः परमार्थसदन्तरस्य भेदो न वर्तते, परमार्थसदन्तरस्यैवाभावात् पूर्वपक्षिमते परमार्थसद्वस्तुनो बहुत्वात् एकस्मिन् परमार्थसति परमार्थसदन्तरस्य भेदोऽपि वर्तते। अतस्तन्मते परमार्थसत्त्वं स्वसमानाधिकरणान्योन्याभावा प्रतियोगिवृत्ति भवत्येव, तन्निषेधाय प्रतियोग्यवृत्तित्युक्तम्। सदितरावृत्तित्वादिति हेतुः। परमार्थसत्त्वं सदितरावृत्ति भवति, सदितरदसत्, परमार्थसत्त्वं तदवृत्त्येव। ब्रह्मत्ववदिति दृष्टान्तः। ब्रह्मत्वं हि परमार्थसत्त्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोग्यवृत्ति, ब्रह्मणि ब्रह्मणो भेदो नास्ति। ब्रह्मत्वे दृष्टान्ते सदितरावृत्तित्वरूपहेतुरपि वर्तते। दृष्टान्ते हेतुसाध्ययोः सामानाधिकरण्येन व्याप्तिग्रहात् पक्षे हेतोः सत्त्वेन साध्यस्य सिद्धिः। अनेनानुमानेन परमार्थसत् एकत्वसिद्ध्या बहूनां परमार्थसत्त्वाभावात् ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपञ्चस्य परमार्थसत्त्वाहित्यं सिद्धम्, तथा च प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमेव पर्यवस्यति।

प्रश्नः ५ मिथ्यात्वसाधक अंशित्वहेतुः यथाग्रन्थं समालोच्यताम्?

उत्तरम् — श्रीचित्पुखाचार्यैः प्रपञ्चमिथ्यात्वेऽनुमानं प्रमाणमुपन्यस्तम्—

अंशिनः स्वांशगतात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः।

अंशित्वादितरंशीव दिगेषैव गुणादिषु॥

अस्यामभिप्रायः —अयं पटः, एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, अंशित्वात्, इतरांशिवत्। यत्किञ्चित् पटमात्रपक्षीकृत्य एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे साधितेऽर्थान्तरता स्यात्, पटान्तरस्य एतत्तन्तुनिष्ठत्वाभावात्। तन्निवृत्त्यर्थमयं पटः इत्युक्तम्। पटविशेष इत्यर्थः। यः पटः एतत्तन्तुसमवेतत्वेन प्रतीतः स एव “अयं पटः” इति शब्देन प्रतिपाद्यते। अत्र एतत्पटारम्भकास्तन्तवः एव एतत्तन्तवः। अन्योन्याभावव्यवच्छेदार्थमत्यन्तग्रहणम्। तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीत्युक्ते तन्त्वन्तरमादायार्थान्तरता स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थं एतत्तन्तुनिष्ठेत्युक्तम्। एतत्तन्तुभिरनारब्धे पटान्तरे साध्यं सुप्रसिद्धम्। अत्र आचार्येण तन्तुपटमुपादानपरमित्युक्तम्। अत एव अंशित्वादिति हेतोः कार्यत्वादित्यर्थः। कार्यमात्रस्य स्वोपादाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे सिद्धे कार्यमात्रस्य मिथ्यात्वं सिद्ध्यति, स्वोपादाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमेव स्वस्य मिथ्यात्वात्। कार्यस्य कारणाभेदेन तदनाश्रितत्वात् सिद्धसाधनम्, अनाश्रितत्वेनान्याश्रितत्वेन वा उपपत्त्या अर्थान्तरञ्च स्यादिति चेन्न, कार्यकारणयोरत्यन्ताभेदे कार्यकारणभाव एव न स्यात्। अतः कार्यकारणभावरक्षणाय कार्यकारणयोः कथञ्चिद् भेदोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः। कार्यकारणयोः कथञ्चिद् भेदाभ्युपगमे कार्यकारणयोरश्रयाश्रयिभावोऽभ्युपपद्यते। एवं रूपेण सिद्धसाधनतां समाधाय अर्थान्तरत्वं समाधातुमाह—पटस्य अनाश्रितत्वाभ्युपगमे पटस्याश्रितत्वग्राहकप्रमाणबाधस्यात्। पटादेः कारणानाश्रितत्वस्वीकारेऽपि भूतलाद्याश्रितत्वात्। “अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी” इति प्रतिज्ञावाक्ये पक्षीकृतस्य एतत्पटस्य एतत्तन्तुमात्राश्रितत्वेन विशेषणान्नार्थान्तरम्। “एतत्तन्वाश्रितोऽयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी” इति प्रतिज्ञायां पटस्यानाश्रितत्वेनान्याश्रितत्वेन नार्थान्तरं भवितुमर्हति। कथञ्चित् पटे संयोगवृत्त्या एतत्तन्तुषु वर्तमाने अंशित्वहेतोः सत्त्वात्, तत्र च साध्याभावाद् व्यभिचारः स्यादिति चेन्न तत्समवेतस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमङ्गीकुर्वतः तत्संयोगिनस्तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाङ्गीकारेण पक्षसमत्वात्। इह तन्तुषु पटः इति प्रत्यक्षस्य भ्रमसाधारणतया चन्द्रप्रादेशिकप्रत्यक्षवदप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितत्वेनाबाधकत्वेनाबाधात्, एतदुपादानकत्वरूपैतत्समवेतत्वस्यैतन्निष्ठात्यन्ताभावाविरोधित्वेनांशित्वस्य साध्येन विरोधाभावात्, यत्रैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्रैतत्तन्त्वारब्धत्वाभाव इति व्यतिरेकव्याप्तौ एतन्निष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वस्यैतत्तन्त्वारब्धत्वाभावरूपसाध्यव्यापकस्य पक्षावृत्तेः पक्षवृत्तितया सन्दिह्यमानैतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपसाधनाव्यापकस्य चोपाधेर्विद्यमानत्वेन पूर्वपक्षीयसत्प्रतिपक्षानुमानस्य सोपाधिकत्वेन सत्प्रतिपक्षाभावादित सर्वमनवद्यम्।

प्रश्नः ६— जड़त्वादिहेतूनां सोपाधिकत्वमाक्षिप्य सयुक्तिः निरस्यताम्?

उत्तरम् — सिद्धान्तिना “विमतं मिथ्या दृश्यत्वात्, जड़त्वात्, परिच्छिन्नत्वात्, शुक्तिरूप्यवदिति प्रयोगः प्रदर्शितः। प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धये त्रयो हेतवः दृश्यत्वादयः उपात्ताः। पूर्वपक्षिणा उपाधिद्वयं शङ्कितम्—स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वं स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति

निषेध्यत्वेन विषयत्वञ्च। पक्षमात्रव्यावृत्तस्य समव्याप्तिमतो व्यतिरेकव्याप्तिमत उपाधित्वात्। साध्योपाध्योव्यापकत्वग्राहकानुकूलतर्काणां वक्ष्यमाणत्वात्, पक्षेतरत्वतुल्यत्वाभावात्। पक्षबाधोन्नीतत्वात् पक्षेतरत्वतुल्यतायामपि दोषाभावात्, मित्रातनयत्वेन साध्ये शाकपाकजत्वस्य तस्मिन्साध्ये श्यामत्वस्येव चात्रापि दृश्यत्वेन मिथ्यात्वे साध्ये दोषप्रयुक्तभानत्वस्य तस्मिन्साध्ये मिथ्यात्वस्य चोपाधितत्वाच्च। एतेन अधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताकदोषवद् हेतुजन्यज्ञानविषयत्वं श्रुतितात्पर्यविषयत्वं, प्रातिभासिकत्वं, प्रतिभासमात्रशरीरत्वं चाप्युपाधिरिति सूचितम्। प्रथमोपाधौ समव्याप्तिसिद्ध्यर्थं अधिष्ठानसमसत्ताकेति विशेषणं, न तु पक्षव्यावृत्त्यर्थम्। इति पूर्वपक्षे प्राप्ते आह आचार्यः—नायमुपाधिः, ब्रह्मज्ञानमात्रबाध्ये देहात्मैक्यादौ साध्याव्यापकत्वात्, पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादिवत्, पक्षमात्रव्यावर्तकविशेषणवत्त्वेन पक्षेतरत्वतुल्यत्वात्, बाधस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वेन बाधोन्नतित्वाभावात्। अपि च यद्व्यतिरेकस्य साध्यव्यतिरेकसाधकत्वं तस्यैव साध्यव्यापकत्वम्, इतरांशेऽनुकूलतर्काप्रसरात्। एवञ्चेश्वरसाधकानुमाने शरीरजन्यत्वस्येव मिथ्यात्वानुमाने स्वबाधकेत्यादिविशिष्टस्य नोपाधित्वम्, उपाधिव्यतिरेकेण साध्याभावसाधने व्यर्थविशेषणघटितत्वेन व्याप्त्यसिद्धेः। एतेन अधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताकदोषवद् हेतुजन्य-ज्ञानविषयत्वमपि नोपाधिरिति सूचितम्, ब्रह्मणि कल्पिते क्षणिकत्वादौ साध्याव्यापकत्वाच्च। श्रुतितात्पर्यविषयत्वं तु साधनव्यापकत्वान्नोपाधिः। एतेन प्रातिभासिकत्वमपि नोपाधिरिति सूचितम्, देहात्मैक्ये साध्याव्याप्तेः, दृष्टिसृष्टिपक्षे प्रतिभासमात्रशरीरत्वस्यापि साधन-व्यापकत्वादिति सर्वमनवद्यम्।

प्रश्नः ७— प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वेन प्राबल्यं निरस्याताम्?

उत्तरम् — पूर्वपक्षी उपजीव्यत्वेन प्रत्यक्षस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानादद्वैतागमाच्च प्राबल्यं सिद्धं करोति। उपजीव्योपजीविनोर्विरोधे उपजीव्यस्यैव प्राबल्यमिति स्थितः यथा स्मृतीनां श्रुतिमूलकत्वेन श्रुत्युपजीव्यत्वात्, श्रुतितो दौर्बल्यम्, उपजीव्यत्वात् श्रुतेः प्राबल्यम्। उपजीव्यत्वं चानुमानापेक्षिताशेषसमर्पकतया शब्दतज्जन्यज्ञानप्रामाण्यादिग्राहकश्रोत्रसाक्षिसजातीयतया च। दृष्टं च नरशिरःकपालाशुचित्वागमस्य शुचित्वानुमानोपजीव्यागमसजातीयत्वेनोप-जीव्यत्वमात्रेण प्राबल्यम्। अज्ञातस्यैवेन्द्रियस्य करणत्वान्नानुमानादीनामप्युपजीव्यत्व-मित्यागमानुमानापेक्षया अध्यक्षस्यैव प्राबल्यम्। अन्यथा तत्सिद्धव्याप्त्यादेर्योग्यतादेश्च बाधापत्या अनुमेयस्य शब्दार्थस्य च बाधापत्तेः, अनुमेयस्य शब्दार्थस्य च व्याप्तियोग्यतादिना समानयोगक्षेमत्वात्, अत एव हि व्यावहारिकेण प्रातिभासिकेण वा धूमेन तात्त्विकस्य व्यावहारिकस्य वा वह्नेर्नानुमितिः। प्रतिबिम्बस्य मिथ्यात्वेऽपि बिम्बरहितावृत्तित्व-रूपव्याप्तिरस्त्येव। यदि हि मिथ्यात्वानुमानमेव तत्त्वावेदकम्, न तु वह्न्यनुमानादिकमिति स्यात् तर्हि अधिकसत्ताकमिथ्यात्वं मिथ्यात्वादेः सिद्धयेत्। नैतदास्ति, अस्तु वा हेतु-साध्ययोः कथञ्चिद् विषमसत्ताकत्वादिकम्, तथापि प्रामाण्यसमसत्ताकत्वं विषयस्याङ्गी-करणीयमेव। अर्थबाधे अर्थाबाधरूपप्रामाण्यसत्यत्वासम्भवात्, रूप्यादिज्ञानप्रामाण्यमिथ्यात्वे रूप्यमिथ्यात्वस्यापि दर्शनाच्च। यत्प्रामाण्यं स्वरूपसिद्ध्यर्थं अपवादनिरासार्थं वा यत्प्रामाण्यमपेक्षते, तस्यैव तदुपजीव्यत्वेन प्रतिषेध्यज्ञानप्रामाण्यानायत्तप्रामाण्यकप्रतिषेधक-ज्ञानस्य न प्रतिषेध्यज्ञानबाध्यत्वापत्तिः। येन बिना न यस्यानुत्थानं तत्तस्योपजीव्यं इति प्रतिषेध्यज्ञानस्याप्युपजीव्यत्वेऽपि परीक्षितत्वविशिष्टोपजीव्यत्वस्यैव प्राबल्यप्रयोजकत्वान्नोक्त दोषः, प्रमानन्तरभ्रमस्य वेदबाह्यागमादेश्च प्राबल्यनिराकरणार्थं परीक्षितत्वविशिष्टपरत्वस्यैव

भवन्मतेऽपि प्राबल्यप्रयोजकत्वात्, परीक्षा च विशेषदर्शनजन्यज्ञानान्तररूपसजातीयसम्बाद-
रूपाद्यर्थक्रियारूपविजातीयविसंवादाभावरूपा न प्रतिषेध्यज्ञानस्यास्तीति न दोषः। सन् घटः
इति प्रत्यक्षस्य तु उक्तरूपसंवादस्य विजातीयविसंवादाभावस्य च विद्यमानत्वात्
स्वोत्तरानुमानादिबाधकत्वेन नोक्तानुमानं प्रयोजकम्। प्रतिषेध्यसमर्पकजीवेशभेदादिश्रुतेस्तु
अदुष्टत्वात्स्वार्थेऽपि प्रामाण्यमेवेति न दोषः। दोषाभावादिज्ञानपरीक्षायामप्यनाशवासे तु सर्वत्र
अनाशवासात् कापि व्यवस्था न सिद्धयेदिति उपजीव्यप्रत्यक्षबाधितत्वान्न प्रपञ्चमिथ्यात्व-
सिद्धिरिति चेन्न, उपजीव्याविरोधात्। तथाहि—यत्स्वरूपमुपजीव्यते तन्न बाध्यते, बाध्यते च
तात्त्विकत्वाकारः, स च नोपजीव्यते कारणत्वे तस्याप्रवेशात्, तदुक्तम्—

पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ।

हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा॥

वस्तुतस्तु सन् घटः इति प्रत्यक्षस्यानुमानाद्युपजीव्यत्वमेव नास्ति, अपेक्षितार्थसमर्पकत्व-
मात्रेणोपजीव्यत्वे प्रतिषेध्यज्ञानस्य प्रतिषेधकज्ञानोपजीव्यत्वापत्तेः, यथा हि प्रतिषेध्य-
ज्ञानत्वेनैवोपजीव्यत्वं न तु तत्प्रमात्वादिना एवं प्रकृतेऽपि पक्षज्ञानत्वादिनैव कारणता, न तु
तत्प्रमात्वादिनेति तुल्यं, लिङ्गाभासादपि वह्निमिति वह्निप्रमादर्शनात्। एतेन यत्प्रामाण्यं
स्वरूपसिद्ध्यर्थमपवादनिरासार्थं वा यत्प्रामाण्यमपेक्षते तत्तस्योपजीव्यमिति वचनमपि परास्तम्।
व्याप्तिज्ञानादेरनुमित्यनुपजीव्यत्वापत्तेः। यदधीनोत्थानकं यत्तत्तस्योपजीव्यमित्यङ्गीकारे तु
नात्रोपजीव्यविरोध इति पूर्वमेव निरूपितम्। परीक्षितत्वविशिष्टोपजीव्यत्वस्यैव प्राबल्य-
प्रयोजकत्वेऽपि न विरोधः। उपजीव्यतावच्छेदकव्यावहारिकत्वस्यैव परीक्षयाऽपि
दृढीकरणेनोपजीव्यत्वेनेव परीक्षयाऽपि तात्त्विकत्वसाधनासम्भवात्। एतेन अनुमित्यादेः
व्याप्त्यादिसमानसत्ताकत्वनियमोऽपि परास्तः, लिङ्गाभासात् व्यावहारिकवह्न्यनुमितिदर्शनात्।
ध्वनिधर्मह्रस्वत्वदीर्घत्वादिविशिष्टत्वेन मिथ्याभूतैरपि वर्णैस्तात्त्विकवस्तुपरिच्छेददर्शनात्,
गन्धप्रागभावाच्छिन्ने घटे तात्त्विकव्याप्तिमताऽपि पृथिवीत्वेनातात्त्विकगन्धानुमितिदर्शनात्
प्रतिबिम्बेन बिम्बानुमिति दर्शनाच्च। तथा च अनुमेयस्य लिङ्गव्याप्त्यादिसमानसत्ताकत्वनियमस्य
भङ्ग एव। एतेन शब्देऽपि योग्यतासमानसत्ताकेन शब्दार्थेन भवितव्यम्, योग्यतावाक्यार्थयोः
समानसत्ताकत्वनियमादिति कथं वेदान्तवाक्यार्थो योग्यताबाधेऽपि अबाधितः स्यादिति परास्तम्।
वेदान्तवाक्ये अखण्डार्थरूपवाक्यार्थबाधरूपाया योग्यताया अप्यबाधाच्च। न च तथापि
वेदान्ततज्ज्ञानप्रामाण्यमिथ्यात्वे कथं तात्त्विकाद्वैतसिद्धिरिति वाच्यम्, शब्दतज्ज्ञानतात्त्विकत्वं
हि न विषयतात्त्विकत्वे तन्त्रम्, इदं रजतमिति अनाप्तवाक्यस्य तज्जन्यभ्रमस्य च त्वन्मते
तात्त्विकत्वेऽपि तद्विषयस्यातात्त्विकत्वात्। इति उपजीव्यजातीयप्रत्यक्षबाधा-
सम्भवात्प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरप्रत्यूहैव।

प्रश्नः १— अद्वैतप्रतिपादिका काचन श्रुतिर्वक्तव्या?

उत्तरम्— एकमेवाद्वितीयम्, (तरति शोकमात्मवित्, “नेह नानास्ति किञ्चन” इत्यादयः।)

प्रश्नः २— प्रपञ्चो मिथ्या सत्यो वा?

उत्तरम्— मिथ्यैव।

प्रश्नः ३— अद्वैतसिद्धिः शब्दार्थः?

उत्तरम्— अप्रामाण्यज्ञानानाशकन्दिताद्वैतनिश्चयेत्यर्थः।

- प्रश्नः ४— किमिदं प्रतिकर्मव्यवस्थानम्?
 उत्तरम्— कश्यचित् पुंसः कदाचिदेव कश्चिदेव विषयो ज्ञानकर्म, न सर्वस्य सर्वदा सर्व इति प्रतिनियतकर्मव्यस्था।
- प्रश्नः ५— प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधकमनुमानं वक्तव्यम्?
 उत्तरम्— प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्।
- प्रश्नः ६— प्रपञ्चः व्यावहारिकः प्रातिभासिको वा?
 उत्तरम्— व्यावहारिकः।
- प्रश्नः ७— फलव्याप्यत्वं ब्रह्मणि सम्भवति न वा?
 उत्तरम्— नैव।
- प्रश्नः ८— मिथ्यात्वमिथ्यात्वं मिथ्या न वा?
 उत्तरम्— मिथ्यैव।
- प्रश्नः ९— जीवो व्यापकः अणुर्वा?
 उत्तरम्— व्यापकैव।
- प्रश्नः १०— किमिदं दृश्यत्वम्?
 उत्तरम्— सप्रकारकवृत्तिविषयत्वं दृश्यत्वम्।
- प्रश्नः ११— मिथ्याशब्दार्थः कः?
 उत्तरम्— “मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचनः” इति पञ्चपादिकारीत्या सदसत्त्वानधि-
 करणत्वरूपानिर्वाच्यत्वं मिथ्यात्वम्।
- प्रश्नः १२— श्रुतिः प्रत्यक्षाद् बलवती भवति न वा?
 उत्तरम्— भवत्यैव।
- प्रश्नः १३— अकृतज्ञः कः?
 उत्तरम्— विस्मृतोपकारः।
- प्रश्नः १४— अङ्गविद्या का?
 उत्तरम्— गणितशास्त्रम्।
- प्रश्नः १५— अङ्गाङ्गिभावः कः?
 उत्तरम्— उपकार्योपकारभावः।
- प्रश्नः १६— अनुवादः कः ?
 उत्तरम्— भाषान्तरीयवाक्यार्थस्य भाषान्तरीयवाक्येन बोधनम्।
- प्रश्नः १७— अनुव्यवसायज्ञानं किम्?
 उत्तरम्— विषयिविषयकज्ञानम्।
- प्रश्नः १८— अन्तःकरणं किम्?
 उत्तरम्— मिलितसमस्तापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतसात्त्विकांशकार्यत्वे सति ज्ञानशक्तिप्रधानत्वम्।
- प्रश्नः १९— अन्त्यावयवित्वं किम्?
 उत्तरम्— अवयवजन्यत्वे सत्यवयव्यजनकत्वम्।
 अथवा— द्रव्यानारम्भकत्वे सति कार्यद्रव्यत्वम्।
- प्रश्नः २०— अन्योन्याध्यासः कः?
 उत्तरम्— अन्योन्यस्मिनन्योन्यतादात्म्यस्याध्यासः।

प्रश्नः २१— अपौरुषेयत्वं किम्?

उत्तरम् — सजातीयोच्चारणापेक्षोच्चारणकवृत्त्यानुपूर्वोरहितत्वम्।

प्रश्नः २२— अर्थाध्यासः कः?

उत्तरम् — प्रमाणाजन्यज्ञानविषयत्वे सति पूर्वदृष्टसजातीयत्वम्।

प्रश्नः २३— अहङ्ग्रहोपासनं किम्?

उत्तरम् — उपास्यस्वरूपस्य स्वाभेदेन चिन्तनम्।

प्रश्नः २४— आरम्भकारणवादः कः?

उत्तरम् — पूर्वमीश्वरेच्छावशात्पार्थिवदिपरमाणुषु क्रियाद्युत्पत्त्यनन्तरं द्वयणुकमुत्पद्यते, ततस्त्र्यणुकचतुरणुकादिक्रमेण भूतभौतिकानि द्रव्याणीति।

प्रश्नः २५— आर्थीभावना का?

उत्तरम् — प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापारैव।

प्रश्नः २६— उत्तरं किम्?

उत्तरम् — जिज्ञासितविषयावेदकवाक्यमुत्तरम्।

प्रश्नः २७— उपनिषद् कः?

उत्तरम् — ब्रह्मविद्याप्रतिपादकवेदशिरोभागः।

प्रश्नः २८— उपलक्षणं किम्?

उत्तरम् — विशेष्यानन्वयित्वे कादाचित्कत्वे वा सति व्यावर्तकम्। यथा काकादिकं देवदत्तगृहादेः।

प्रश्नः २९— एकार्थीभावः कः?

उत्तरम् — विशेष्यविशेषणभावावगाहित्वे परस्परान्वितत्वे वा सत्येकार्थोपस्थितिजनकत्वम्।

प्रश्नः ३०— क्षणिकत्वं किम्?

उत्तरम् — तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्।

प्रश्नः ३१— ग्रन्थः कः?

उत्तरम् — अलौकिकैकप्रयोजनोद्देश्येन प्रवृत्तवाक्यसमुदायः।

प्रश्नः ३२— चक्रकदोषः कः?

उत्तरम् — स्वग्रहसापेक्षग्रहसापेक्षग्रहसापेक्षग्रहकः?

प्रश्नः ३३— तन्त्रं किम्?

उत्तरम् — सकृदुच्चरितत्वे सत्यनेकार्थबोधकत्वम्।

प्रश्नः ३४— तर्कः कः?

उत्तरम् — व्याप्यारोपेण व्यापकारोपः, यथा—यदि पर्वते वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यात्, यद्वा—यदि प्रपञ्चः सत्यः स्यात्तर्हि अद्वैतश्रुतिविरोधः स्यात्, यद्वा—यदि परमात्मा जीवभिन्नः स्यात्तदा घटादिवदनात्मत्वेनानित्य एव स्यादित्यादिः।

प्रश्नः ३५— द्वैतवादः कः?

उत्तरम् — जीवेश्वरादिबहुविधभेदनिर्णायकः कथाविशेषः।

प्रश्नः ३६— द्वैताद्वैतं किम्?

उत्तरम् — कार्यात्मना द्वैतं कारणत्मनाऽद्वैतम्।

प्रश्नः ३७— नारायणक्षेत्रं किम्?

उत्तरम् — गङ्गाप्रवाहावधिहस्तचतुष्टयमितस्वामिनारायणस्थानम्।

प्रश्नः ३८— नित्यत्वं किम्?

उत्तरम् — त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वम्।

प्रश्नः ३९— नियमविधिः कः?

उत्तरम् — नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिः= नियमविधिः।

प्रश्नः ४०— पञ्चीकरणः कः?

उत्तरम् — पञ्चानां भूतानां एकैकं द्विधाविभज्य स्वार्द्धभागं विहायार्द्धभागं चतुर्धा विभज्येतरेषु योजनम्।

प्रश्नः ४१— पदैकवाक्यत्वं किम्?

उत्तरम् — पदरूपार्थवादवाक्यस्य विधिवाक्येन सह यदैकवाक्यत्वं = पदैकवाक्यत्वम्।

प्रश्नः ४२— परिसंख्याविधिः कः?

उत्तरम् — उभयप्राप्तावितरव्यावृत्तिबोधको विधिः, यथा यागाङ्गत्वेन पशुरशनाग्रहणे कर्तव्ये यागाङ्गत्वविशेषादश्वगर्दभयोः द्वयोः रशनाग्रहणशङ्कायामश्वविधानीमादत्त इति गर्दभरशनाग्रहणव्यावृत्तिविधिः=परिसंख्याविधिः।

प्रश्नः ४३— प्रतिवादः कः?

उत्तरम् — वादिप्रयुक्तन्यायवाक्यविरुद्धन्यायवाक्यप्रयोगः।

प्रश्नः ४४— प्रतिवादी कः?

उत्तरम् — वादिप्रयुक्तन्यायवाक्यविरुद्धन्यायवाक्यप्रयोगकर्ता।

प्रश्नः ४५— वादी कः?

उत्तरम् — प्रथमपक्षप्रतिपादकः?

प्रश्नः ४६— प्रश्नः कः?

उत्तरम् — अविज्ञातार्थज्ञानार्थमिच्छाप्रयोज्यवाक्यम्।

प्रश्नः ४७— ब्रह्मज्ञानं किम्?

उत्तरम् — तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यप्रतिफलितवृत्त्यारूढज्ञानम्।

प्रश्नः ४८— ब्रह्मसाक्षात्कारः कः?

उत्तरम् — स्वाभिन्नं ब्रह्मेति दृढनिश्चयः।

प्रश्नः ४९— मध्यस्थः कः?

उत्तरम् — विवदमानयोः सदसद्वाक्यविचारकः।

प्रश्नः ५०— महावाक्यं किम्?

उत्तरम् — जीवब्रह्मैक्यबोधकवाक्यम्, यथा तत्त्वमस्यादि।

प्रश्नः ५१— महाविद्यानुमानत्वं किम्?

उत्तरम् — पक्षे प्रकारान्तरेण साध्योपसंहारशालित्वे सति दृष्ट्यन्ते प्रकारान्तरेण साध्योपसंहारशालित्वम्। यद्वा— केवलान्वयिनि व्यापके प्रवर्तमानो हेतुः पक्षे व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानबलादन्वय-व्यतिरेकि साध्यविशेषं वाद्यभिमतं साध्यमिह महाविद्येत्युच्यते।

प्रश्नः ५२— मोक्षः कः?

उत्तरम् — विद्यानिरस्ताविद्यातत्कार्यब्रह्मात्मनावस्थानम्।

प्रश्नः ५३— लेशाविद्या का?

उत्तरम् — आवरणविक्षेपशक्तिमत्या मूलाविद्यायाः प्रारब्धकर्मवर्तमानदेहाद्यनुवृत्तिप्रयोजको विक्षेपशक्त्यंशः।

प्रश्नः ५४— वदतो व्याघातः कः?

उत्तरम् — परस्परपराहतवाक्यम्, यथा मम मुखे जिह्वा नास्ति।

प्रश्नः ५५— वाक्यैकवाक्यता का?

उत्तरम् — वाक्यानामुपकार्योपकारकाकाङ्क्षायामेकवाक्यता=वाक्यैकवाक्यता।

प्रश्नः ५६— विक्षेपशक्तिः का?

उत्तरम् — आकाशादिविविधकार्यजननानुकूलमज्ञानसामर्थ्यम्।

प्रश्नः ५७— विद्या का?

उत्तरम् — पुरुषार्थसाधनम् अथवा—वेदार्थपरिज्ञानम् अथवा—विद्याहेतुशास्त्रम्।

प्रश्नः ५८— विमतं किम्?

उत्तरम् — वादिप्रतिवादिनोर्विवादविषयीभूतम्।

प्रश्नः ५९— वृत्तिः कः?

उत्तरम् — विषयचैतन्याभिव्यञ्जकोऽन्तःकरणाज्ञानयोः परिणामविशेषः।

प्रश्नः ६०— वेदः कः?

उत्तरम् — इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थे वेदयति सः=वेदः।

प्रश्नः ६१— वैराग्यं किम्?

उत्तरम् — दृष्टादृष्टविषयेषु स्मृहाविरोधचित्तपरिणामविशेषः।

प्रश्नः ६२— वैराग्यकारणं किम्?

उत्तरम् — विषयेषु दोषदृष्टिः।

प्रश्नः ६३— सप्तद्विपः कः?

उत्तरम् — जम्बूद्विपः, कुशद्विपः, शाकः, कौज्वश्च, शाल्मलि, गोमेदः, पुष्करश्चैव सप्तद्विपाः प्रकीर्तिताः।

प्रश्नः ६४— सप्तर्षिः कः?

उत्तरम् — कश्यपोऽत्रिर्वीसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः, जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः स्मृताः।

प्रश्नः ६५— समाधानं किम्?

उत्तरम् — उन्नावितदूषणनिवर्तकवाक्यप्रयोगः।

प्रश्नः ६६— समाधिः कः?

उत्तरम् — वृत्त्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकाचितवृत्तिः।

प्रश्नः ६७— लघुचन्द्रिकाकारस्य गुरुः कः?

उत्तरम् — आचार्यप्रवरश्रीस्वामिपरमानन्दसरस्वती।

प्रश्नः ६८— प्रमायाः स्वतस्त्वं किम्?

उत्तरम् — विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वं प्रमायाः स्वतस्त्वम्।

प्रश्नः ६९— शक्तौ किं प्रमाणम्?

उत्तरम् — वह्निरद्विष्ठातीन्द्रियस्थितिस्थापकेतरभावाश्रयः, गुणवत्त्वात्, घटवत्।

प्रश्नः ७०— सुवर्णपुष्पां पृथिवीं के पुरुषास्त्रयः चिन्विन्ति?

उत्तरम् — सुवर्णपुष्पां पृथिवी चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः। शूरश्च कृतविद्यश्च योऽभिजानाति सेवितुम्॥

सङ्केतानां विवरणम्

अ०सू०	अष्टाध्यायी सूत्र
ईशा०उ०	ईशावास्योपनिषत्
उप०सा०	उपदेशसाहस्री
ऐ०उ०	ऐतरेयोपनिषत्
क०उ०	कठोपनिषत्
के०उ०	केनोपनिषत्
खं०ख०	खण्डनखण्डखाद्य
गी०	भगवद्गीता
चि०	चित्सुखी
छा०उ०	छान्दोग्योपनिषत्
जै०न्या०मा०	जैमिनीय न्यायमाला
जै०सू०	जैमिनिय सूत्र
तं०वा०	तन्त्र वार्तिक
तै०उ०	तैत्तिरीयोपनिषत्
तै०ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै०सं०	तैत्तिरीय संहिता
नृसिंहो०	नृसिंहतापिनी उपनीषत्
न्या०कु०	न्याय कुसुमाञ्जली
न्या०सू०	न्याय सूत्र
पं०द०	पञ्चदशी
पा०सू०	पाणिनी सूत्र
प्रश्नो०	प्रश्नोपनिषत्
बृ०उ०	बृहदारण्यकोपनिषत्
ब्र०सि०	ब्रह्मसिद्धि
ब्र०सू०	ब्रह्मसूत्र
मां०का०	माण्डूक्य कारिका
मां०उ०	माण्डूक्योपनिषत्
मनु०	मनुस्मृति
महा० भा०	महाभारत
मु०उ०	मुण्डकोपनिषत्
यो०वा०	योगवासिष्ठ
ल०च०	(अद्वैतसिद्धिव्याख्या) लघुचन्द्रिका
विष्णु पु०	विष्णुपुराण
श्वेता०उ०	श्वेताश्वतरोपनिषत्
सं०शा०	संक्षेपशारीरक